शाकुन्तलं धर्मविज्ञानम्

डॉ. रामलखनपाण्डेय:

शाकुन्तलं धर्मविज्ञानम्

[अभिज्ञानशाकुन्तलस्याभिनवं समीक्षणम्]

प्रणेता

डॉ. रामलखनपाण्डेय:

मानितविश्वविद्यालयस्य राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य
लक्ष्मणपुरीपरिसरे साहित्यविभागे प्रवाचकः

हर्पर्वा प्रकाशन

5/750ए, विकास खण्ड
गोमतीनगर, लखनऊ–226010
(भारत)

उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानस्य वित्तीयसहयोगेन प्रकाशितम्

हपर्वाप्रकाशनम्
प्रथमं संस्करणम्
विक्रमसंवत्–२०६४

© **लेखकस्य**

मूल्यम् - रु. १२५/–

पत्राचारः
डॉ. रामलखन पाण्डेय
५/७५० ए, विकास खण्ड
गोमती नगर, लखनऊ–२२६०१०

अक्षरयोजक : काशीनाथ

मुद्रक : वी.एम.पब्लिशर्स, गोमतीनगर, लखनऊ

।। प्राक्कथनम् ।।

अहं त्रिंशद्वर्षपूर्वं काशीहिन्दूविश्वविद्यालये प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसंकायस्य स्नातकस्नातकोत्तरस्तरीयश्छात्रोऽभवम्। स एव संकायस्तत्र विश्वविद्यासंस्थाने पण्डितमदनमोहनमालवीयेन सर्वप्रथमं प्रवर्तितोऽभूदिति श्रुतवानस्मि। एतस्य संकायस्य नामनि 'धर्मविज्ञान'मिति यत्पदं तद्विषयकमर्थानुसन्धानं मम मनसि तदानीमेव नूनमङ्कुरितमासीदिति स्मरामि। परवर्तिनि कालेऽपि तदर्थानुसन्धानं प्रच्छन्नतया ममाभ्यन्तरे निरन्तरं प्राचलदित्यपि जानामि। तद्वशादेवाद्य 'शाकुन्तलं धर्मविज्ञान'मिति कालिदासीयां समीक्षां विलिख्य तेषामेव महामनसां चरणेषु प्रत्यर्पयितुमिच्छामि, ये विश्वविद्याविकासक्रमे धर्मविज्ञानस्य प्राथम्यमवधारयन्ते।

अद्यतने काले पाश्चात्यां विद्यामुपास्य यो हि विश्वविकासक्रमः प्रवर्तते, तत्र धर्मस्य कृते किमपि स्थानं नावलोक्यते। किन्तु प्राच्यविद्यायां धर्म एव सर्वविधस्यापि विकासक्रमस्य धुरं निर्वहति। विकासक्रमे विज्ञानं पुनरुभयत्रापि प्रयुज्यते। प्राच्यविद्या धर्मसापेक्षं विज्ञानमधिकरोति, किन्तु पाश्चात्यविद्या धर्मनिरपेक्षेणैव विज्ञानेन प्रवर्तते। धर्मसापेक्षतया प्राच्यविद्याविज्ञानेन विकासक्रमो नियन्त्रितस्तिष्ठति, किन्तु धर्मनिरपेक्षेण पाश्चात्यविद्याविज्ञानेनानियन्त्रित एव विकासोऽवलोक्यते। विकासाधिक्यदर्शनाज्जनो मुह्यति।

स एष सम्मोहो द्विधा व्यपगतो भवितुमर्हति धार्मिकेण सन्तुलनेन वा विनाशेन वा। धर्मविज्ञानपरा प्राच्यविद्या भौतिकविज्ञानपरां पाश्चात्यविद्यां कदापि न विरुध्नाति। तथापि तयोर्मध्ये यत् सन्तुलनं तदद्य नितान्तमावश्यकं प्रतीयते। तदभावे विनाश एव परिलक्ष्यते।

वस्तुतो धर्मनिरपेक्षं विज्ञानं न संभवति। विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानमिति यदुच्यते तत्तत्र धर्मप्रयुक्त एव विशेषो भवितुमर्हति। आहारनिद्राभयमैथुनादौ समानः सन्नपि मानवो धर्मेणैव पशुभ्यो विशिष्यते। न हि किमपि धर्मविमुखं शास्त्रं विनिर्माय तद्गतत्वेन विज्ञानं विज्ञानमिति भणितुं युज्यते। अद्यत्वे पाश्चात्यविद्यानुसारि भौतिकं नाम शास्त्रमेकं विलिख्य

तद्गतं बाह्यं ज्ञानमेव विज्ञानमिति यदुच्यते तदस्माभिः नाद्रियते। युगे युगे देशे देशे च बहुविधानि शास्त्राणि क्रियन्ते। न हि तत्र सर्वत्र विज्ञानं संप्रतिष्ठते। शास्त्रगतं ज्ञानमपि ज्ञानमेव भवति। तच्च शास्त्रगतं ज्ञानं यदा धर्मेण युज्यते, तदैव विज्ञानमिति वक्तुं शक्यते।

प्राच्यविद्यामर्थयन्तो ये केचन धर्मस्य सनातनं स्वरूपमङ्गीकुर्वन्ति, तेऽधुनातनेऽपि जगति धर्मपरां प्रवृत्तिं परिपालयन्ति। ऐहिकं सुखं ते शापाय मन्यन्ते। भौतिकेषु सुखेषु तेषामनास्था भवति। तदनुसारेण कालेऽस्मिन् धर्मो दण्डमुखो भूत्वा प्रवर्तते। दण्डं तपसा विनिमातुं प्रयतमानास्ते सान्तरायमपि धर्मं श्रद्धया सन्दधानाः समवलोक्यन्ते। त एवाधुनिका विज्ञानिनो भवन्ति। तेषां मतेन यदधुनातनं भौतिकं विज्ञानं तन्महति युगान्तराले दण्डमुखेन धर्ममपि नूनमेव स्पृशति। धर्मो धर्मतया यदा नाधीयते तदा स एव धर्मो दण्डतया परिणमते। धर्मे श्रद्दधाना जनास्तं धार्मिकं दण्डं तपोभिरुतीर्य काले विशुद्धं धर्मं भजन्ति। किन्तु धर्मविमुखास्तेन धार्मिकदण्डपातेन विनश्यन्ति। तदेवं स्थिते साम्प्रतिके भौतिके युगेऽपि धार्मिकं सन्तुलनमावश्यकं भवति।

तदर्थं धर्मस्य विज्ञानमभ्युपेयम्। लोक इव काव्येऽपि धर्मविज्ञानं भवति। काव्यगतेन धर्मविज्ञानेन लोकहितसाधनं च संभवति। तस्मादेव 'शाकुन्तलं धर्मविज्ञानं' विलिख्यते। अत्र शाकुन्तलीयं यद्विवेचनं तद्धर्मविज्ञानपरत्वेन नवामेव सूक्ष्मेक्षिकामर्हति। धर्मश्चात्र काव्यधर्म एवेति न विवादे मतिर्विधेया। सेयं कालिदासीया काव्यसमीक्षा भवत्सु यथा मूल्याङ्किता भवति, तथाग्रे मां प्रबोधयिष्यति।

महाकवेः कालिदासस्य नाटकं समीक्षमाणेन मया मदीयास्त्रयो गुरुवर्याः समधिकं स्मर्यन्ते। कालिदाससाहित्ये कृतभूरिपरिश्रमाः श्रीमन्तो रेवाप्रसादद्विवेदिनः, संस्कृतनाटकेषु बहुकृतमतयस्तत्रभवन्तो रामज्युपाध्यायाः, संस्कृतनाट्यसाहित्ये नवाभिनिवेशनिपुणाः प्रो. राधावल्लभत्रिपाठिनश्च मामत्र निजेनैव बलेन प्रेरयन्ति। उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थानादवाप्तः प्रकाशनकर्मणि सहयोगराशिरिति कृतज्ञतां व्याहरामि।

- डॉ. रालपा

।। धर्मविज्ञान ।।

राजनीतिक धर्मनिरपेक्षता बस एक राजनीति है। धर्म को कभी भी नकारा नहीं जा सकता। धर्मनिरपेक्ष होना धर्म को नकारना है भी नहीं। धर्म के अस्तित्व को स्वीकारे बिना धर्मनिरपेक्ष कोई कैसे हो सकता है? ।। १ ।।

एक सज्जन कह रहे थे कि धर्मनिरपेक्षता और धर्मभीरुता एक ही चीज है। लेकिन ऐसा है नहीं। धर्मभीरु धर्मनिरपेक्ष होने का दुःसाहस नहीं कर सकता। पर वे पारस्परिक धार्मिक तटस्थता को धर्मनिरपेक्षता कह रहे थे ।। २ ।।

धर्म मूलतः एक होकर भी विश्व के बहुविध विकास में असंख्य आकार ग्रहण करता है। इस स्थिति में स्वधर्म और परधर्म का ख्यापन होता है। परधर्मनिरपेक्ष होकर स्वधर्मसेवन का विधान है ।। ३ ।।

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ स्वधर्मनिरपेक्षता कदापि नहीं है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ परधर्मनिरपेक्षता ही हो सकता है। स्वधर्मपालन के लिए परधर्मनिरपेक्ष होना आवश्यक भी है। परधर्मनिरपेक्ष चित्त ही स्वधर्मपरिपालन में वस्तुतः प्रवृत्त होता है ।। ४ ।।

"स्वपरविवेक" स्व और पर के बीच भेदबुद्धि को उत्पन्न करके कलह का कारण कभी नहीं बनता। स्वपरविवेक धर्म को अध्यात्म से जोड़कर स्व और पर के बीच एक अनूठा संवाद उत्पन्न करता है। अध्यात्म स्व को एक ऐसी व्यापकता प्रदान करता है कि स्वधर्म की व्याप्ति में आकर परधर्म स्वतः निरपेक्ष हो जाता है। यह निरपेक्षता सकारात्मक है ।। ५ ।।

धर्म की परिभाषा एक शब्द में करनी हो तो अध्यात्म शब्द का प्रयोग पर्याप्त है। किन्तु धर्म शब्द के अर्थ को यदि हम नहीं समझ पा रहे हैं तो अध्यात्म शब्द के अर्थ को कैसे समझ लेंगे। धर्म और अध्यात्म जिस भाषा के शब्द हैं, आज हम उस भाषा से बहुत दूर आ चुके हैं। लेकिन आज भी हम उस भाषा के ऐसे असंख्य शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं और शब्दप्रयोग सर्वथा निरर्थक नहीं हो सकता ।। ६ ।।

धर्म मानव जाति को वैदिक वाङ्मय की एक अलौकिक देन है। आज का मानव धर्म शब्द के अर्थ को समझना चाहता है। क्या आज की किसी भाषा में धर्म को परिभाषित किया जा सकता है? वैदिक भाषा से परिचित हुए बिना धर्म का अर्थबोध असम्भव है ।। ७ ।।

मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ, जो वेदमन्त्र तो क्या 'ओना मासी धम्' भी नहीं जानते, पर उन्हें देखकर मुझे लगता है कि वे धर्म शब्द का अर्थ मुझे समझा सकते हैं। मैने यह भी सुना है कि रावण वेदज्ञ होकर भी अधर्मी था ।। ८ ।।

धर्म का जोर ज्ञान पर कम और आचरण पर अधिक है। धर्माचरण का ज्ञानमुखापेक्षी होना आवश्यक नहीं। धर्म ज्ञानाज्ञान की भाषा में नहीं कर्तव्याकर्तव्य की भाषा में परिभाषित होता है। ज्ञानाज्ञान से ऊपर उठकर धर्म एक ऐसा विज्ञान है, जो हमें सत्कर्म में प्रवृत्त करता है।। ९।।

धर्म अध्यात्म से जुडकर वैज्ञानिक स्वरूप को धारण करता है। हम कह सकते हैं कि अध्यात्म ही धर्म का विज्ञान है। आध्यात्मिक धरातल पर धर्म का विज्ञान अखण्ड और अनन्त होता है। देश और काल की व्यापकता एवं परिवर्तनशीलता में अध्यात्मविज्ञान धर्म के सकारात्मक और समग्र स्वरूप को प्रकट करता है ।। १० ।।

नकारात्मक धर्म को ही अधर्म कहते हैं। यद्यपि धर्म को नकारा नहीं जा सकता, तथापि यदि धर्म को नकारा जाता है, तो उस नकारात्मक स्थिति में धर्म धर्म न रहकर अधर्म हो जाता है। आस्तिकता और नास्तिकता भी इसी बिन्दु पर परिभाषित होती हैं। ईश्वर और अनीश्वर का निकष भी यही है। आस्था और अनास्था के स्वर भी यहीं पहचान में आते हैं ।। ११ ।।

धर्मविज्ञान के लिए हम धर्मदर्शन शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। हमारा धर्मदर्शन हमें धर्म और अधर्म दोनों का परिचय कराता रहा है। हमारे धर्मदर्शन में आस्तिकता-नास्तिकता, ईश्वर-अनीश्वर, आस्था-अनास्था और ज्ञान-अज्ञान के बोधवाक्य भरे पड़े हैं। हमारी सकारात्मक सोच में यह सब धर्मदर्शन अथवा धर्मविज्ञान के अन्तर्गत है ।। १२ ।।

धर्म के लिए विज्ञान शब्द का प्रयोग करना आज हमारी विवशता है। क्योंकि विज्ञान शब्द के प्रयोग आज जिन अर्थों में हो रहे हैं, वे नितान्त अवैज्ञानिक हैं। आज धर्म को आधार बनाये बिना ही विज्ञान को आकार दिया जा रहा है। धर्म से कटकर आधुनिक भौतिक विज्ञान दिन प्रतिदिन विस्फोटक होता जा रहा है। हम पुनः विज्ञान को धर्म का आधार देने के लिए सचमुच विवश हैं ।। १३ ।।

विज्ञान संस्कृत भाषा का एक शब्द है। संस्कृत भाषा से परिचित हुए बिना विज्ञान शब्द के अर्थ को नहीं जाना जा सकता। शास्त्रीय ज्ञान जब धर्म से जुड़ता है तब उसे विज्ञान कहते हैं। धर्म के बिना विज्ञान संभव ही नहीं है ।। १४ ।।

धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप जब सुरक्षित नहीं रह पाता, तब धर्म ही दण्ड का रूप धारण कर लेता है। सच पूछिए तो आज का विज्ञान दण्ड का ही विज्ञान है। आज के वैज्ञानिक आविष्कार अन्ततः मानवता को दण्डित करते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप को सुरक्षित न रख पाने के कारण ही यह सब होता है ।। १५ ।।

हमारे शास्त्र धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए हैं। हमारे काव्यों में भी धर्म का विज्ञान सुरक्षित है। काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में 'काव्यधर्म' शब्द का प्रयोग आज भी होता है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् का जो काव्यधर्म है, उसे हम यहाँ 'शाकुन्तलं धर्मविज्ञानम्' के नाम से प्रस्तुत कर रहे हैं ।। १६ ।।

– डॉ. रालपा

विषयक्रमः

प्राक्कथनम्	I – II
धर्मविज्ञान	III – IV
नाटकीया प्रस्तावना	1 – 22
प्रथमोऽङ्कः	23 – 31
द्वितीयोऽङ्कः	32 – 36
तृतीयोऽङ्कः	37 – 42
चतुर्थोऽङ्कः	43 – 71
पञ्चमोऽङ्कः	72 – 100
षष्ठोऽङ्कः	101 – 112
सप्तमोऽङ्कः	113 – 124
उद्धरणसूची	125 – 128

धन्या वसुमती यत्रोल्लासि शाकुन्तलं वियत्।

विना धर्मस्य विज्ञानं न तत् केनापि वीक्ष्यते॥

रालपप्रणीतम्

।। शाकुन्तलं धर्मविज्ञानम् ।।

काव्येन शास्त्रेण च सम्मितं यद्
व्याख्यानमेवंविधमाचिकीर्षुः।
श्रीकालिदासस्य शकुन्तलायां
धर्मस्य विज्ञानमुरीकरोमि।।

देशकालावधानेन सम्पृक्तं काव्यमुच्यते। काव्ये देशकालयोरभिनवं संस्करणं भवति। काव्येन समाजः समयश्च परिवर्तते। कविः समाजादभ्युत्थाय निजकवितया सामाजिकीमेव प्रीतिं परिपुष्णाति।

सामाजिकत्वे स्वस्मिन् सुस्थितेऽपि कविस्तटस्थो भवति। वर्तमानं विसंगतं समाजं नासौ सहते। ऐकान्तिके स्वकीये ताटस्थ्ये सः सामाजिकीं कामपि संगतिं साक्षात्करोति। तामेव संगतिं समाजे समर्पयितुं काव्यपरो भवति। तेन कश्चिदभिनवः समाजः सम्पद्यते। अत्रैव काव्यगतं सामाजिक–मनोविज्ञानं विचारविषयतां याति। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू"रिति यदुच्यते, तत्र कवेर्मनीषिता समाजसापेक्षा भवति। लोकविलक्षणायां कवेर्मनीषायां सामाजिकं सर्वमपि संविधानं वैज्ञानिकं भूत्वा प्रवर्तते। कवेर्या काव्यप्रतिभा सा सामाजिकमनोविज्ञानसंवलिता भवति। तस्मादेव कविः नवं समाजं साधयितुं प्रभवति।

अथ कोऽयं समाजो नाम? सम्पूर्णा सृष्टिरेव समाज इति कालिदासोऽभिज्ञानशाकुन्तले भणति। सा च सृष्टिरष्टधा विभक्ता। तत्र

पञ्चमहाभूतानि, सूर्याचन्द्रमसौ, यजमानश्चेति। तत्रापि पञ्चमहाभूतानि स्थावराणि, सूर्याचन्द्रमसौ च नियतरूपौ। यजमानश्चेतनसमाजविशेषे प्रतिनिधिभूतः प्रधानः सामाजिकः कथ्यते। स हि सामाजिकं सर्वमपि तन्त्रमधिष्ठाय स्वेष्टसम्पादने प्रवर्तते। स्वेष्टसम्पादनपरत्वमेव तस्य यजमानत्वमुच्यते। इदमिष्टमिदमनिष्टमिति तदृते नान्यत्र युज्यते। सामाजिकं सर्वमपि परिवर्तनं तदधीनं भवति। सचेतनं निश्चेतनं चेति सर्वविधं समाजं स्वचेतसि संधार्य स कल्याणाय प्रवर्तते। स्थावरजङ्गमात्मिकां सम्पूर्णां सृष्टिं स्वात्मनि समाधाय सः स्वयमपि शिवस्वरूपतां याति, सम्पूर्णां सृष्टिमपि शिवस्वरूपां पश्यति। सोऽयं समाजस्वरूपनिरूपणपरः कालिदासस्याभिज्ञानशाकुन्तले नान्दीश्लोकः—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।

अत्र स्थावरजङ्गमात्मकस्य निखिलस्यापि समाजस्य तावद् अङ्गाङ्गिभावः प्रतिपादितो भवति। यानि पञ्चमहाभूतानि, यौ च सूर्याचन्द्रमसौ, तदात्मनि समाधाय यथा यजमानस्य स्वरूपमाविर्भवति, तथैव भगवतः शिवस्यापि स्वरूपमाविर्भवति। तथापि यजमानः समाजस्याङ्गभूतः शिवश्चाङ्गिभूतः। अङ्गाङ्गिनोरैक्यं यथा यथा सिध्यति, तथा तथा सामाजिकं कल्याणं प्रतिफलति। एतदेव धार्मिकं जीवनमित्युच्यते। यजमानस्तत्र यज्ञेन विधिना शिवस्वरूपतामाधत्ते। यज्ञे विधिपूर्वकं हुतं हविरेव वह्निर्वहति। विधिरहितो यज्ञस्तामसः कथ्यते। साभिमानेन विधिना कृतः स एव राजसो भवति। निरभिमानेन कर्त्तव्यभावनया विहितो यज्ञ एव सात्त्विकयज्ञ इति कथ्यते। तामसं राजसं च भावं निरस्य सात्त्विकेन विधिना समाजं प्रवर्तयितुं कालिदासो मालिविकाग्निमित्रे नान्दीं लिखति—

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः।।

यज्ञेष्विव नाट्येष्वपि सामाजिकता प्रवर्तते। यद्यपि नाट्ये प्राधान्येन सहृदयेषु सामाजिकता स्वीक्रियते, तथापि तत्परत्वेन कविरपि नटोऽपि च सामाजिकतामर्हत्येव। नाट्यकाराः यादृशीं सामाजिकतां हृदि संधार्य नाट्यलेखने प्रवर्तन्ते, नटा अपि तादृशीं सामाजिकतां साधयितुं प्रयोगपरा भवन्ति, सहृदयाश्च तादृशीमेव सामाजिकतां रसत्वेनास्वादयन्ति। यज्ञे यजमानो यथा ऋत्विग्भिः यज्ञविधिं प्रवर्तयति, तथैव नाट्ये कविर्नटैः नाट्यविधिं प्रवर्तयति। लौकिको वैदिको वा यज्ञविधिर्नाट्ये नाट्यविधित्वेन परिणमते। नाट्यं नाम चाक्षुषो यज्ञ एवेति स्वयमाह मालविकायां कालिदासः—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः क्रान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।।

अभिज्ञानशाकुन्तलमिति नाटकस्य नामनि कवेर्यत् सामाजिकमनोविज्ञानं परिलक्ष्यते, तदतीव विलक्षणं विस्मयकरं चास्ति। अभिज्ञानं तदपि कथ्यते यदात्मनि बुध्यते, अभिज्ञानं तदपि कथ्यते यत्परं बोधयितुं प्रवर्तते। सामाजिकमनोविज्ञानदृष्ट्या तदुभयमप्यावश्यकं भवति। आत्मावबोधः परप्रबोधश्चेति बोधो बोधकश्चेति द्वयमप्यनिवार्यं भवति। निर्विकल्पकोऽपि बोधः प्रथमं सविकल्पक एव भवति। द्वैतं विना कथमद्वैतं संभवति। तस्मादभिज्ञानं सामाजिकं धार्मिकं च सम्पद्यते। सामाजिको धर्मः द्वैताद्वैतमपेक्षते।

कस्यचिदभिज्ञाने केनाप्यभिज्ञापकेन नूनमेव भाव्यम्। अभिज्ञानार्थक "मभिज्ञान"मिति पदं नाटकस्य नामनि साक्षात्प्रयुक्तम्। अभिज्ञापकार्थकं च पदं तत्र शाकुन्तलमिति। यद्यपि तदभिज्ञापकं नाम वस्तु नाभिज्ञानेन भिन्नं वक्तुं युज्यते, तथापि तत्र तादृक् साहित्यं साधयितुं नाटकस्य नामनि अभिज्ञानार्थकमभिज्ञापकार्थकं चेति पदद्वयं प्रयुक्तम्। उभयत्रापि सामाजिकता, प्रसज्यते। अभिज्ञानकारकं यद्वस्तु तत्तु सामाजिकं भवत्येव, अभिज्ञानमपि सामाजिकमेव भवति। नाटकीयां सामाजिकतां प्रकाशयितुमत्र नामनि पदद्वयं प्रयुक्तम्। अभिज्ञानमित्येकपदप्रयोगेणापि करणेऽधिकरणे च ल्युडिति समीहिते सिद्धे सत्यपि शाकुन्तलमिति पदं प्रयुज्य कर्मधारयेण समाहारेण वा यत्समासविधिरुपास्यते तन्नाटकस्य सामाजिकमनोविज्ञानं प्रकटयितुमेव साहित्यिकं स्वारस्यं साधयितुमेव चास्माभिरादीयते समाद्रियते च।

अभिज्ञानात्मकमभिज्ञापकात्मकं चादानप्रदानं सामाजिके साहित्ये प्रचलत्येव। अनुरागपरे साहित्ये पारस्परिकमभिज्ञानमावश्यकं भवति। **"अनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते"** इति स्वयं कालिदासोऽभिज्ञानशाकुन्तलस्य षष्ठेऽङ्के सानुमतीमुखेनोक्तवान्। सप्तमेऽङ्के च दुष्यन्तः शकुन्तलामभिधत्ते— **"तदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानमिच्छामि"** इति। यो हि यथा भवति स तथात्वेनैव चेदनुरागिभिः गृह्यते, न केवलं पारस्परिकोऽनुरागस्तेन संवर्धतेऽपि तु स्वात्मनि धार्मिकः प्रत्ययोऽपि तेनैव संगच्छते। अनुरागेऽभिज्ञानं रामायणेऽपि प्रसक्तम्। तत्र तदभिज्ञानकरं काण्डमेव सुन्दरकाण्डमिति कथ्यते। नायकनायिकयोर्मध्येऽभिज्ञानस्य दानादानं मेघदूते कविर्लिखति—

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद् विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।।

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः।।

अभिज्ञानं विना ज्ञानं खण्डितं तिष्ठति। अभिज्ञानरहितं ज्ञानमज्ञानमिव विफलं भवति। मेघदूते यक्षदम्पती शापविषयकं ज्ञानं रक्षतः, किन्तु शाकुन्तले शकुन्तलादुष्यन्तौ शापज्ञानरहितौ स्तः। एवमेव सति शापे दुष्यन्तः शकुन्तलां न विजानाति, किन्तु यक्षः शापदशायामपि निजां प्रियां विजानाति। तथापि यथा मेघदूते तथैव शाकुन्तलेऽपि विरहो दुरुत्तरो वर्तते। यदा पुनरभिज्ञानं सम्पद्यते, तदा न केवलमभिज्ञानशाकुन्तलेऽपितु मेघदूतेऽपि सर्वं सार्थकं सम्पद्यते। तदेवं तदेतदभिज्ञानं कदाचिद् ज्ञानपूर्वकं भवति, कदाचिदथ ज्ञानाज्ञानपूर्वकमपि भवति। तेन तत्राभिज्ञाने ज्ञानाज्ञानयोः साहित्यशास्त्रानुकूलं सामञ्जस्य–मवलोक्यते। तदुक्तम्–

ज्ञात्वापि विस्मृतं तत्त्वमभिज्ञानेन बुध्यते।
तदेतदिति साहित्यमभिज्ञानमुदीर्यते ।।

कालिदासस्य मतानुसारेण कविकर्म अभिज्ञानपरं भवति। ज्ञानस्य सम्मुखीकरणमभिज्ञानमिति कथ्यते। तच्च काव्येन संभवति। तदर्थं काव्यं नाट्यायितं भवति। नाट्येनैव ज्ञानं सम्मुखीनं विधीयते। सम्मुखीनं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाय कल्पते। ज्ञानं सम्मुखीनं विधातुं नाट्ये प्रयोगपरता संघटते। प्रयोगः प्रत्याययितुं भवति। किन्तु प्रयोक्ता यावदात्मनि प्रत्येतुं न प्रभवति, तावत्परानपि प्रत्याययितुं नार्हति। प्रयोगे आत्मप्रत्ययः परप्रत्ययश्चेति द्वयमपि साधनीयं भवति। परेषां परितोषमात्रेण प्रयोगविज्ञानं सफलतां नाधिगच्छति। परप्रत्ययेनात्मप्रत्ययः कथमपि न सिध्यति। अथ चात्मप्रत्ययं विना वास्तविकं

परप्रत्ययमपि साधयितुं न युज्यते। आत्मनः सृष्टिरेव यदि विदुषां परितोषे परिलक्ष्यते, तदा प्रयोगपराणां नटानां पक्षतः सिद्धं प्रयोगविज्ञानम्। एवमेव प्रयोगदर्शनपराणां सहृदयानां सामाजिकानां पक्षतोऽपि विज्ञेयम्। आत्म–प्रत्ययश्चात्र स्वधर्मसाधनपरः ख्यायते।

नटा इव सामाजिका अपि प्रयोगे परेषां सृष्टिमवलोक्य न वास्तविकं परितोषं भजन्ति, अपि तु तस्मिन्नेव प्रयोगे यदात्मनः सृष्टिमवलोकयन्ति, तदेव तेषां वास्तविकं परितोषं जनयति। तदुभयपक्षतोऽपि यदात्मप्रत्ययः प्रवर्तते, तदेव प्रयोगविज्ञानस्य साफल्याय कल्पते। अत एव नटानधिकृत्य कविः सूत्रधारमुखेन प्राह–

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।।

अत्र "विदुषा"मिति पदप्रयोगो विपरीतव्यञ्जनया "अल्पज्ञाना"मिति विपरीतार्थकमपि पदार्थं पुरस्करोति। अल्पज्ञाश्चात्र यथा नटाः सम्भवन्ति तथैव सामाजिका अपि। तेन पद्यमिदं नटानां सामाजिकानां च कृते युगपत् प्रवर्तते। नटा अपि केचन नाट्यप्रदर्शने स्वात्मानं विदुषं मन्यमानाः भवन्ति, सामाजिका अपि केचन नाट्यदर्शने स्वात्मानं विदुषं मन्यमानाः भवन्ति। ते चोभयेऽपि बलवदपि शिक्षिताः स्युर्नाम। तेषां चोभयेषां नाट्यविधौ परितोषोऽपि भवेन्नाम। तावता प्रयोगविज्ञानं साधु न मन्ये। यतो हि आत्मनि प्रत्ययं विनापि ते तथा व्यवहरन्ति। तेषां नटानां सामाजिकानां च चेतः यावद् आत्मनि = आत्मविधौ = तादात्म्यविधौ प्रत्ययं न लभते, तावत् प्रयोगविज्ञानं कथं साधु मन्येत। प्रयोगस्य साधुत्वे तादात्म्यसाधनसंवलितं हृदयमेव प्रमाणं भवति, न वैदुष्यम्। तथाभूतं हृदयमेव व्यवहारे धार्मिकमित्युच्यते।

प्रायोगिकी शिक्षा तादात्म्यपरा प्रवर्तते। तत्र नट एव सामाजिकशिक्षाया माध्यमो भवति। तदर्थं नाट्यविधौ नाट्यनिर्देशकेन प्रतिपात्रं तथा कश्चन यत्न आधेयो भवति, येन प्रायोगिकी शिक्षा सामाजिकेषु सम्यक् प्रवर्तेत। स च यत्नस्तादात्म्यसाधनपरो भवति। नाट्याचार्यस्तत्र कलात्मकेन विधिना नाट्यपात्रेषु नाट्यमवतारयति। जलदस्य जलबिन्दुर्यथा समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां व्रजति, तथैव नाट्याचार्यस्य नाट्यशिल्पं पात्रविशेषे न्यस्तं सद् गुणाधिक्यं भजति। तदुक्तं स्वयमेव कालिदासेन मालविकाग्निमित्रे नाट्याचार्यमुखेनैव–

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।

प्रायोगिकशिक्षाक्रमे तादात्म्यसाधनपरा या क्रियात्मकता सा सामान्येन वैशिष्ट्येन च सुश्लिष्टा भवति। प्रायोगिकशिक्षायां कृतादरस्य नाट्याचार्यस्य आत्मसंस्था या क्रिया, सा सामान्या। तस्याश्चात्मसंस्थायाः सामान्यक्रियायाः सामाजिकेषु या संक्रान्तिः, सा विशेषयुक्ता। नाट्यविधौ क्रियाया उभयी प्रवृत्तिः साधनीया भवति। **"एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा"** इति लोके यदुच्यते, तस्य नाट्याम्नाये नितान्तमालंकारिकं संस्करणं प्रस्तौति कालिदासस्तत्रैव मालविकाग्निमित्रे–

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था,
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।

आत्मप्रत्ययपुरःसरं परप्रत्यायनं नाट्यमिति कथ्यते। तदेष नाट्यनियमो यथा कवौ तथा नटे तथैव च सामाजिकेऽपि प्रवर्तते। आत्मप्रत्ययं परिहाय केवलं परप्रत्ययेन प्रवर्तमाना नाट्यमूढा भवन्ति। तदुक्तं मालविकायां

प्रस्तावनायाम्—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

पद्यमिदं वर्तमानसन्दर्भे यथा प्रवर्तते, तथात्र मया प्रस्तूयते। कविना नाट्ये यदात्मप्रत्ययपुरःसरं परप्रयायनं पुरस्कृतम्, नटस्तमेव परप्रत्ययं नाट्यप्रयोगावसरे नादधाति न वा सामाजिकेभ्यः पुरस्करोति। अपि तु कवौ यदात्मप्रत्ययः कवित्वेन तिष्ठति, स एवात्मप्रत्ययो नटे नटत्वेन संपद्यते। एवमेव नटेन यदात्मप्रत्ययपुरःसरं प्रयोगे परप्रत्यायनं पुरस्क्रियते, सहृदयस्तमेव परप्रत्ययं निजहृदि नादधाति, अपि तु कवौ कवित्वेन नटे नटत्वेन च यदात्मप्रत्ययस्तिष्ठति, स एवात्मप्रत्ययः सहृदये सामाजिकत्वेन संपद्यते। एतत्सर्वमपि तादात्म्यसाधनपरं वस्तुविस्तरं सम्यगभिप्रेत्य कविरभिज्ञानशाकुन्तले प्रस्तावनायां "आ परितोषा"दित्यादिपद्यं सूत्रधारमुखेनोदाहरति। प्रयोगविज्ञाने परमोपनिषद्भूतमिदं पद्यं सामाजिकमनोविज्ञानानुरूपं धर्मानुकूलं प्रवर्तते।

नाट्यविधौ प्रक्रियादशायां तत्र समाजस्त्रिधा भवति। किन्तु नाट्यफले रसास्वादनकाले त्रिविधः स समाज एकीभवति। प्रथमं त्रिविधः पर्यन्ते चैकश्चेति कथमुपपद्यते। दुष्यन्तादिगतत्वेनानुकार्यस्वरूपः समाजः, नटादिगतत्वेनानुकर्तृ—स्वरूपः समाजः, प्रयोगदर्शनपरः सहृदयसमाजश्चेति नाट्यतन्त्रे समाजस्य त्रैविध्यं विदितमेव। नाट्यरसे पुनरयं त्रिविधोऽपि समाजो यथैकतामर्हति, तदपि रसनिष्पत्तिसन्दर्भे काव्यविद्भिर्व्याख्यातम्।

रसास्वादे सहृदयाः सामाजिका एव प्रवर्तन्ते, न नटाः, नैव च दुष्यन्तादयः। तथापि सहृदयानां सामाजिकानामक्ष्णोः पुरः परिस्फुरन् यो हि लोकविलक्षणः काव्यसमाजस्तत्र लौकिकाः पूर्वोक्तास्त्रिविधा अपि समाजा

अलौकिकेन विधिना रसात्मकेन वा वर्त्मना परस्परमेकीभूय विराजन्ते। एकीभूते च तस्मिन् काव्यसमाजे दुष्यन्तादयश्चारित्रिकेण विधिना, नटादयः कलात्मकेन विधिना, सहृदयाश्च भावात्मकेन विधिना प्रवर्तन्ते। तथापि काव्यसमाजभूतं तं काव्यार्थं सहृदया एव साक्षात्कुर्वन्ति। यतो हि सहृदयानां भावाश्चरित्रकलादिकं सर्वमपि काव्योपकरणं स्वस्मिन्नन्तर्भावयन्तः सहृदयसम्बन्धिनमेव काव्यार्थं प्रादुर्भावयन्ति। स्थायिता सहृदयगतस्य भावस्यैव भवतीति काव्ये सहृदयस्य स्थायिभाव एव रसरूपेण व्यज्यते। **"स्थिरे चित्तीयते जग"** दिति न्यायेन स्वभावादभिन्नमपि समाजापरपर्यायं तं काव्यरसं सहृदयः स्वदते। कविरपि तत्र सहृदयतया रसास्वादनमर्हति। तदेवं काव्ये सामाजिकं वृत्तं सहृदयसंवाद–रूपेण स्वधर्मस्वरूपानुसारि संगच्छते।

समाजो हि कालसापेक्षो भवति, कालश्च समाजं सहकृत्य प्रवर्तते। नाट्यकर्त्तारो नाट्यारम्भे नाट्यगतकालसापेक्षसमाजस्य संकीर्तनं कुर्वन्ति। सा चेयं कालश्रुतिः ऋतुमती भूत्वा स्वात्मनि काव्याधानं समीहते। अभिज्ञानशाकुन्तले समाजो यादृशं कालमधिकृत्य प्रवर्तते, तदभिव्यञ्जयितुं तत्र प्रस्तावनायां नटीसूत्रधारयोर्वार्ताक्रमेण ग्रीष्मर्तुर्वर्ण्यते। ग्रीष्मवर्णनं चात्र द्विधा प्रवर्तते परिचयपरत्वेन गीतिपरत्वेन च। ग्रीष्मस्य परिचयप्रदाने सूत्रधारः प्रवर्तमानं ग्रीष्मसमयं "अचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं" कथयति। तत्र कीदृशा दिवसा इत्युच्यन्ते–

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ।।

अत्र सुभगसलिलावगाहत्वं पाटलसंसर्गिसुरभिवनवातत्वं प्रच्छायसुलभनिद्रात्वं परिणामरमणीयत्वं चेति दिवसानां परिचयो यथा

दुष्यन्तादिगतत्वेन तथैव नटाद्यनुगतत्वेन तथैव च सहृदयसामाजिकगतत्वेनापि पिण्डीभूतेन काव्यत्वेन प्रकाशते। गीते पुनरेते दिवसाः निशारूपेण प्रमदायन्ते–

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेशरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।।

यस्मादत्र ग्रीष्मदिवसाः प्रमदायन्ते, तस्मादेव गीतेऽस्मिन् ग्रीष्मस्य निशा व्यज्यन्ते। ग्रीष्मनिशायां सन्निकटायां प्रियेषु दयमानास्तरुण्यः शिरीषकुसुमान्यवतंसयन्ति। कुमारसंभवस्य **"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता"** इति कथनं नूनमत्रापि संघटते। अत एव कुसुमचुम्बनतत्परास्ते भ्रमराः कुसुमावतंसपराभिः प्रमदाभिर्न वार्यन्ते। तथा कृते सति चारुता भग्ना भवति। अत ईषदीषच्चुम्बितानि सभ्रमराणि शिरीषकुसुमानि ताभिरीषदीषदेव कर्णावतंसतया धार्यन्ते।

यदुच्यते– **"भ्रमरवारितमेव कुसुमावतंसनमभीष्टम्, प्रमदानां दयमानता चात्र शिरीषकेसरशिखासौकुमार्ये युज्यते, भ्रमरचुम्बनेन चाथ विकसमानकुसुमस्योपभोगक्षमता व्यज्यत"** इति, तदचारुचर्विताभिधानम्। शिरीषकेसरशिखासौकुमार्येऽपि प्रमदानां दयमानता युज्येत, भ्रमरचुम्बनेन कुसुमस्योपभोगक्षमता चापि व्यज्येत, तदुभयं भूषणमत्र न दूषणम्। यतस्तदुभयमपि भ्रमरवारणं विनापि संभवत्येव। सभ्रमरपुष्पावतंसपराः प्रमदाश्चुम्बनपरेषु भ्रमरेष्वेव केवलं न दयन्ते, अपि तु शिरीषकेसरशिखा–सौकुमार्येऽपि कामं दयन्त एव। उभयत्रापि तासां दयमानता युज्यते। किन्तु केवलं शिरीषकेसरशिखासौकुमार्ये दयमानास्ताः कुसुमरसपानपरेषु भ्रमरेषु निर्दयतां प्रकटयेयुरिति न शोभते। कुसुमस्योपभोगसामर्थ्ये साधिते सति तदुपभोगपरेषु भ्रमरेषु प्रमदाः किमर्थं न दयेरन्। भयादिति चेदुच्यते प्रमदानां

भोगपराणां भयमपि सदयमेव भवतीति प्रतिवक्तुं युज्यते। भोगे सभया अपि प्रमदा दययैव वारयन्ति। किन्तु दयया वार्यमाणा भ्रमराः क्व विरमन्ति?

लोके काचित्तरुणी सभ्रमरकुसुमावतंसपरा न विलोक्यते। कविः काव्ये निजेन स्वातन्त्र्येण समुत्साहितो लोकस्य सीमानमतिक्रम्य कवित्वसमुच्छलितां कामप्यलौकिकीं प्रवृत्तिं निःशङ्कतया प्रस्तौति। इदमेव कवेः कवित्वमिति कुन्तकाचार्यो वक्रोक्तिजीविते वस्तुवक्रतामधिकृत्य विशदं विलिखति–

> **"तदेवं सत्तामात्रेणैव परिस्फुरतः पदार्थस्य कोऽप्यलौकिकः शोभातिशयविधायी विच्छित्तिविशेषोऽभिधीयते, येन नूतनच्छायामनोहारिणी वास्तवस्थितितिरोधानप्रवणेन निजावभासोद्भासिततत्त्वस्वरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरिस्पन्दमहिमा प्रतिभासते, येन विधातृव्यपदेशपात्रतां प्रतिपद्यन्ते कवयः।"**

तत्र चेदं प्रथितं पद्यमपि स एवोदाहरति–

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

तथापि काव्ये लोकधर्मा एव व्यज्यन्ते। लौकिकीं कामपि प्रवृत्तिं प्रकाशयितुमेव काव्यात्मिकाः प्रवृत्तयः प्रादुर्भवन्ति। तदिदं हिन्दीसाहित्ये "मिथक"मिति कथ्यते। मिथःकरणं मिथकमित्युच्येत। सर्वविधेऽपि साहित्ये मिथकानां प्रयोगो बहुलतया विलोक्यते। अभिज्ञानशाकुन्तले प्रस्तावनायां पूर्वोक्तेन पद्यद्वयेन रमणीयं मिथःकरणं प्रस्तावितम्। इदञ्च प्रास्ताविकं मिथःकरणं शाकुन्तलस्य नाटकस्य सम्पूर्णमपि वस्तुप्रपञ्चमभिव्याप्य विलसति।

काव्यात्मकं मिथःकरणं कविसमयसापेक्षं भवति। कविसमय एवेति

पारम्परिकैरस्माभिरुच्यते। कविसमया असंख्याः संभवन्ति। अत्र बहुविधानि मिथःकरणानि प्रयुक्तानि भवन्ति। मिथःकरणं नाम पृथक्त्वेन सम्मेलनम्। नाट्ये लोकधर्मिनाट्यधर्मिणोः प्रयोगयोः पृथक्त्वेन सम्मेलनं विधीयते। लोकधर्मी प्रयोगो लोकसामान्योऽभिधीयते, नाट्यधर्मी प्रयोगोऽलोकसामान्यो भवति। पूर्वोक्ते "सुभगसलिलावगाहा" इत्यादिके पद्ये लोकधर्मिप्रयोगस्य मिथःकरणं विलोक्यते, एवमेव "ईषदीषच्चुम्बितानि" इत्यादिके पद्ये नाट्यधर्मिप्रयोगस्य मिथःकरणमवलोक्यते। ग्रीष्मर्तुवर्णनपरत्वेन च तयोरेतयोः लोकधर्मिनाट्य–धर्मिप्रयोगयोरेकीकरणं क्रियते। अथ चैतयोरेव पद्ययोर्मध्ये नायकनायिकयोः पृथक्त्वेन सम्मेलनमपि मिथकायते। तथा हि–

पूर्वोक्तयोः पद्ययोर्मध्ये प्रथमं पद्यं सूत्रधारमुखेन, द्वितीयं पद्यं नटीमुखेन प्रस्तूयते। प्रथमं पद्यं पाठपरं, द्वितीयं पद्यं गीतिपरं विद्यते। प्रथमे पद्ये दिवसोऽभिहितः, द्वितीये पद्ये निशा व्यञ्जिता। तदेवं शिल्पदृष्टया प्रथमं पद्यं नायकपरं द्वितीयञ्च पद्यं नायिकापरं प्रतीयते। नायकनायिकयोरेवं शब्दशिल्पतया पृथक्त्वेनोपन्यासं विधाय ग्रीष्मर्तुपरकसमानविषयवस्तुतया तत्रैव तयोर्मेलनं क्रियते। प्रथमे पद्ये लोकसामान्यविषयोपादानेन नायक–नायिकयोरुभयोरपि समानविषयतासम्बन्धः सुस्पष्ट एव। द्वितीये च पद्ये काव्यविशेषविषयोपादानेनापि नायिकाव्यवहारस्य नायकपरत्वेनोपस्थापनात् तत्रापि तयोर्द्वयोरेकविषयानुप्रवेशो निर्बाधः। प्रमदाः यान्येव कुसुमान्यवतंसयन्ति, तान्येव भ्रमरैरीषदीषच्चुम्बितानीति भ्रमरेषु नायकत्वव्यवहारसमारोपः स्फुटः। प्रमदानां सज्जमानता चापि निजनायकपरैवेति नायकनायिकयोर्मिथःकरणमत्रापि सुस्पष्टम्।

एतस्मादेव मिथःकरणादाविर्भवति शाकुन्तलीयं सकलमपि नाट्य–प्रयोगसंविधानम्। तत्र सूत्रधारमुखेन पूर्वोक्ते पद्ये ग्रीष्मदिवसानां यानि चत्वारि

विशेषणानि, तान्येव शाकुन्तलीयनाट्यप्रयोगसंविधाने लोकधर्मितायाः सम्पादकानि चत्वारि चरणानि भवन्ति। यच्च नटीमुखेन प्रयुक्ते गीते नायिकानायकव्यवहारयोः सविशेषमन्वाख्यानम्, तदेव शाकुन्तलीयनाट्यप्रयोगसंविधाने नाट्यधर्मितायाः सम्पादकं रमणीयं वितानं भवति।

नाटके लोकधर्मितायाः सम्पादकं यत्प्रथमं ग्रीष्मदिवसविशेषणं "सुभगसलिलावगाहत्व"मिति, तेन तत्राभिज्ञानशाकुन्तले नायकनायिकयो–र्दुष्यन्तशकुन्तलयोः प्राथमिकी प्रणयप्रवृत्तिराख्याता भवति। ग्रीष्मदिवसेषु यथा सलिलावगाहः सुभगस्तथैव यौवने प्रणयप्रवृत्तिरपि सुभगैव। अथवा तेषु दिवसेषु सुभगे सलिलेऽवगाहो यथा स्वाभाविकस्तथैव सौभगसम्पन्नयोः यूनोः प्रणयोऽपि सर्वथा स्वाभाविक एव। अवगाहशब्दस्तत्र यथा मज्जने सर्वाङ्गीणतां द्योतयति तथैव नायकनायिकयोः प्रणयेऽपि सम्पूर्णतां प्रकाशयत्येव। सलिलं यथा विधातुराद्या सृष्टिराख्याता तथैव प्रणयोऽपि मानवानां प्रथमा प्रवृत्तिरभिहिता।

"पाटलसंसर्गिसुरभिवनवात" परे द्वितीये विशेषणे प्रणयस्य स्वरूपान्वितिः प्रदर्शिता। संसर्गः सुरभिश्चेति द्वयं तत्र प्रणयस्वरूपोपादानमर्हति। संसर्गो हि यदा संसर्गमर्यादया भासते तदा तत्र सुरभिरपि नूनमुद्भासते। नायकनायिकयोः प्रणये एतदुभयमपि सर्वथा सुसमञ्जसम्। अथ पाटलपुष्पस्य वसन्तोद्भवत्वादचिरप्रवृते ग्रीष्मर्तौ वसन्तस्य सुमनोहरः संसर्गस्तत्र नाटके कामपि रमणीयां कालपरां वक्रोक्तिं परिपुष्णाति। एवमेव पाटलपुष्पस्य पृथिवीविशेषवत्वाद् गन्धो नाम गुणः पृथिव्यां सन्नपि वायौ यद् भासते तत्संसर्गकारणादेव। एवमेव च वनवातस्य जनपदेऽपि प्रसरत्वाद् वनप्रान्तजनप्रान्तयोरपि संसर्गमर्यादया सौरभान्वितिः संभवति। तदेवं मानवीयधरातलेऽपि यूनोः प्रणयस्वरूपे संसर्गसौरभयोर्युगपदन्वितिः प्रतिफलति।

"प्रच्छायसुलभनिद्रा" इति तृतीयं विशेषणं यथा ग्रीष्मदिवसानां पक्षे संघटते तथैव प्रस्तावितस्य नाटकस्याभिज्ञानशाकुन्तलस्य नाट्यसमयेऽपि

दृष्टिगतमेवास्ति। नाटकस्य पूर्वार्धे शकुन्तलां प्रति दुर्वाससः शापोत्सर्गः, दुष्यन्तेन शकुन्तलायाः प्रत्याख्यानं चेति द्वयमपि निद्रायाः कारणादेव भवति। इदं पुनस्तत्र विशेषतया विज्ञापनीयं यत् शापे शकुन्तलाया निद्रा प्रमुखायते, प्रत्याख्याने पुनर्दुष्यन्तस्य निद्रा प्रमुखायते। दोषस्तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये न कस्यचिदेकस्यापि प्रतीयते। निद्रा तु निद्रैव भवति। सा च ग्रीष्मसमये प्रच्छायस्थले सर्वथा सुलभैव। प्रच्छायपदं पुनस्तत्र शकुन्तलायाः पक्षे कामपरं निद्रात्वं द्योतयति, दुष्यन्तस्य पक्षे चार्थपरं निद्रात्वं व्यञ्जयति। एका कामदशायां शून्यहृदया, अपरश्चैश्वर्यमत्तः। तथापि किं क्रियेत? कुत्र दोषो दीयेत? निद्रायां किन्न संभवति। किन्तु नाटकस्य पूर्वार्धे सेयं निद्रा नाटकस्योत्तरार्धे जागरणेन युज्यते।

"परिणामरमणीया" इति चतुर्थं विशेषणं यथा ग्रीष्मदिवसानां पक्षे संगच्छते तथैव प्रस्तावितस्याभिज्ञानशाकुन्तलस्य नाटकस्योत्तरार्धगते नाट्यसमयेऽपि विशदं दृष्टिपथमायाति। पूर्वार्धस्य निद्रा नूनमुत्तरार्धे भग्ना। प्रणयस्य पूर्वार्धे या मांसलता कष्टाय क्रमते, सा एव प्रणयस्योत्तरार्धे सुसंघटनया परमार्थेन युज्यते। पुत्रवती शकुन्तला दुर्वाससः शापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन परिगृहीता। सेयं परिणामरमणीयता न केवलमभिज्ञानशाकुन्तलनाटकस्य सुखान्ततां सूचयति, अपितु भारतीयकाव्यनाट्ययोर्विषये पार्यन्तिकीं मर्यादामपि प्रकाशयति। अभिज्ञानशाकुन्तले नाम काव्ये प्रभूतं काव्यशास्त्रमपि ये विलोकयन्ति, ते जानन्ति यदियं परिणामरमणीयता काव्यशास्त्रे काव्यलक्षण–नियामिका भूत्वा प्रवर्तते। रसगंगाधरे पण्डितराजस्य काव्यलक्षणं कविकुलगुरोः कालिदासस्य काव्यविषयकपरिणामरमणीयतायां परीक्षणीया भवति।

अभिज्ञानशाकुन्तले नाट्यशास्त्रप्रोक्ताया नाट्यधर्मितायाः प्रस्तावितं स्वरूपं नटीप्रोक्ते गीतिपद्ये सम्यगवलोक्यते। नाट्यगतायां लोकधर्मितायां

लोकस्य प्रमाणतां स्वीकुर्वद्भिरपि नाट्यशास्त्रविद्भिस्तत्रैव नाट्यधर्मितायां लोकं कथमपि प्रमाणतया नैव स्वीकुर्वन्ति। लोके सभ्रमरकुसुमावतंसनं नावलोक्यते चेन्माऽवलोक्येत, काव्ये पुनस्तदेव काव्यत्वसंपादकं प्रधानभूतं वैज्ञानिकमुपकरणं भवति। अत एव काव्यमलौकिकमिति कथ्यते। अत्र बहु वक्तव्यं भवति। अलौकिकतां विना लोकस्तावदपूर्णः। यथा यथाऽलौकिकतायाः पुटपाको लोके भवति, तथा तथा लोकः परिपूर्णतां याति।

सुभगसलिलावगाहेत्यादिके पद्ये सर्वमपि वस्तु सर्वथा लौकिकमस्ति, किन्तु ईषदीषदित्यादिके पद्ये यद्वस्तु विलसति तत्तु कथमपि लौकिकं वक्तुं न शक्यते। लोके का नाम दयिता सभ्रमरं कुसुमं कर्णावतंसनं करोति, न कापि। तत्किं तदिदं वस्तु लोकविरुद्धं स्वीक्रियेत, न ह्येव। लोकाश्रयं भवति काव्यम्। काव्येन लोकः परिपुष्यते। अलौकिकश्चात्र भवति परिपोषः। एतदेव प्रकारान्तरेण वच्मि। यज्ञेषु लोकभिन्नाया अलौकिकताया दिव्यताया वा विधातॄणां देवानां प्रसादनेन यथा लोकोपकारपरः कश्चिदुपायः स्वीकृतः, तथैव काव्येष्वपि लोकभिन्नस्य रसस्य प्रकाशनेन लोकोपकारपरः कश्चिदभिनवः सदुपाय एव स्वीकृतो भवति। यज्ञो हि लोकाश्रयः सन्नपि यथा मूलतया लोकभिन्नां वैदिकीं पद्धतिमधिकृत्य प्रवर्तते, तथैव काव्यमपि लोकाश्रयं सदपि लोकभिन्नां काव्यपरामलौकिकीं प्रवृत्तिमनुरुध्य प्रवर्तते। ईषदीषदिति गीते तामलौकिकीं प्रवृत्तिं वयं साक्षात्कुर्मः। तदेवं लोकाश्रयं सदपि काव्यं लोकाराधने लोकोत्तरं भूत्वा प्रवर्तते।

यतः कविरलौकिकतां संस्पृशन्नेव काव्यं करोति, तस्मादिदं काव्यं लौकिकालौकिकयोः साहित्यस्वरूपं भवति। अथ लोकालोकयोर्मध्ये विलसितमपि काव्यं रसप्राधान्यादलौकिकमित्युच्यते, वस्तुमात्रस्याकिञ्चित्करत्वाल्लौकिकमिति नोच्यते। लौकिकः कविः कथमलौकिकीं सृष्टिं विदध्यादिति किमुच्येत।

अलौकिकेन ब्रह्मणा यदि लौकिकी सृष्टिर्विधीयते, लौकिकेन कविना तावदलौकिकी सृष्टिः किमर्थं न विधीयेत। कविसमयाः सर्वथैव काव्यस्या–लौकिकतायै प्रवर्तन्ते। सभ्रमरकुसुमावतंसनपरे पद्ये लौकिकार्थमात्रग्रहणेन सहृदया नैव संतुष्यन्ति। ईषदीषदिति वीप्साप्रयोगात् सति नैरन्तर्ये द्विरुक्तिर्वीप्सेति वचनबलाच्च चुम्बितानीत्यत्र क्तप्रत्ययेन भूतार्थं वर्तमाने प्रवर्तयन् कविः कालवक्रताद्वारेण काव्यस्यालौकिकीं प्रवृत्तिमेव पुरस्करोति। तत एवात्र सभ्रमरकुसुमावतंसनमभिधया नोक्त्वा व्यञ्जना समाद्रियते। सभ्रमरकुसुमावतंसेन चालंकारशास्त्रेऽलंकाराणां लोकोत्तरता व्यज्यते। भ्रमरस्य द्विरेफतापि लोकालोकयोर्मध्ये काव्यानुकूलं विचारणीया। तदुक्तं केनापि–

भ्रमर वच्मि भवानलौकिकस्तावदत्र प्रतिभाति।
स्वनस्ते श्रुतचरः कर्णावतंसीकरणं पुनरिहैव, नान्यत्र।।

तदेवं शाकुन्तले सर्वमपि लोकमलौकिकेन महिम्ना मण्डयितुं कविरीषदीषदित्यत्र तदनुरूपं प्रस्तावयति। सम्पूर्णेऽप्यभिज्ञानशाकुन्तले यादृशः काव्यधर्मोऽवलोक्यते, तादृश एव काव्यधर्मोऽत्र नाटकीयप्रस्तावनायां विहंगमावलोकनविषयतां याति। पूर्वस्मिन् सुभगसलिलावगाहादिके पद्ये य एव काव्यधर्मो लौकिकतामधिकृत्य प्रवर्तते, एतस्मिन् ईषदीषदित्यादिके पद्ये स एव काव्यधर्मो लोकोत्तरतामधिकृत्य प्रवर्तमानो भवति। इह प्रस्ताविता लोकोत्तरता सम्पूर्णेऽपि नाटके प्रतिफलति। वनपथे मृगानुसारिणो दुष्यन्तस्य रथो धावति। आर्यवंशावतंसश्चक्रवर्ती सम्राडपि स्त्रीविषये लम्पटतामाचरति। अनेकधा मिथ्यां च भाषते। वृक्षाः शकुन्तलायै वासोभूषादिकमर्पयन्ति। स्त्रीसंस्थानं ज्योतिरेकं शकुन्तलामुड्डाययति। इन्द्रस्य रथमारोहति मानवः। शिशुः सिंहशावकस्य दन्तान् गणयति। किमेतत्सर्वं लोकेऽवलोक्यते?

काव्ये विविच्यमाने काव्यस्य लोकोत्तरत्वमधिकृत्य यावद् वक्तव्यं

संभवति, काव्यस्य लोकोत्तरं धर्ममधिकृत्य ततोऽप्यधिकं वक्तव्यमपेक्षते। को नु काव्यधर्म इति।

'धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा' इति धर्मलक्षणं लोकधर्म इव काव्यधर्मेऽपि तिष्ठति। लोकधर्म एव तत्रादौ गृह्यताम्। वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति मनुवचनेन लौकिकस्यापि धर्मस्य मूलं वेदे तिष्ठति। न च लोक एव वेद इति वक्तुं युज्यते। तस्माल्लोकधर्मेऽपि काचिदलौकिकता स्वीकार्या भवति। किं पुनः काव्यधर्माणां लोकोत्तरतामधिकृत्य वच्मि। काव्यधर्माः काव्ये रसपरिग्रहस्य कारणानि भवन्ति। रसश्चालौकिकः प्रतिपादित एव पूर्ववर्तिभिः। "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवती" ति श्रुतिरपि तत्र साक्षिणी भवति। लोके लोकधर्मानुगा इव काव्ये काव्यधर्मानुगास्तत्र धर्मविषये श्रद्दधति।

किन्तु धर्मनिरपेक्षेऽस्माकं मानवसमाजे कियन्तो धर्मानुगाः सन्ति। वैज्ञानिकं युगमधुना समन्तादापतितम्। धर्मतलं विस्मृत्य मानव इदानीं विज्ञानतलमध्यास्ते। तदत्र कश्चिद् वक्तुमर्हति–

भौतिकविज्ञानयुगे किमिति धर्मविज्ञानमिति प्रलपसि।
धर्मनिरपेक्षे देशेऽस्माकं कदाचिदयमपराधोऽपि भवति।।

किन्तु बहुविधबाह्यविज्ञानदुर्विलसिते साम्प्रतिके युगेऽपि वास्तविकं विज्ञानं तदेव संभवति, येन धर्मो विवर्धते। धर्मेण विहीनं विज्ञानं विज्ञानं भवितुं नार्हति। तदुक्तं कुर्मपुराणस्योपविभागे–

"चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः। (इति ज्ञानम्)
विज्ञानमितरं विद्याद् येन धर्मो विवर्धते।।
अधीत्य विधिवद् विद्यामर्थञ्चैवोपलभ्य तु।
धर्मकार्याद् निवृत्तश्चेद् न तद् विज्ञानमुच्यते।।"

धर्मपरकं विज्ञानमेव विज्ञानमिति वक्तुं युज्यते। तदिदं धर्मविज्ञानं यथा लोके तथा काव्येऽपि प्रवर्तत एव। यद्यपि न हि लोकधर्म एव काव्यधर्म इति वक्तुं युज्यते, तथापि काव्यं लोकाश्रयं भवतीति को न जानाति। शाकुन्तलीयं धर्मविज्ञानं कविः पूर्वोक्ते काव्यमिथःकरणात्मके पद्यद्वये सम्यक् प्रस्तावयति।

शाकुन्तले भरतमुनेनाट्यशास्त्रानुसारेण द्विविधं धर्मविज्ञानमवतिष्ठते लोकधर्मिप्रयोगपरं धर्मविज्ञानं नाट्यधर्मिप्रयोगपरं धर्मविज्ञानं चेति। यल्लोकानुगतं तल्लोकधर्मिप्रयोगपरं, यदलौकिकतामुपगतं तन्नाट्यधर्मिप्रयोगपरमिति। तदेवं नाट्ये यत्किमपि वचोवितानं तत्र सर्वत्रैव काव्यात्मकं धर्मविज्ञानं प्रतिफलति।

देशकालावधानेन संपृक्तं काव्यमिति यदुक्तं तदनुकूलमेव प्रस्तावनायाः स्वरूपमत्र विलोक्यते। तत्र देशावधानपर्यायं सामाजिकमनोविज्ञानं कालावधानपर्यायं ग्रीष्मर्तुवर्णनं चोल्लिख्य कविः काव्यगतं देशकालानुकूलं धर्मविज्ञानमेव प्रस्तावयति।

नाटकस्य नामनि 'अभिज्ञान'मिति यत्पदं तद्वस्तुतो 'ज्ञान'मिति पदस्य धार्मिकं संस्करणमेवास्ति। ज्ञानं बहुधा खण्डितमपि भवति। किन्तु तत्तेदन्तावगाहि ज्ञानं तत्तामिदन्तां च युगपदभिव्याप्य धारणात्मकेन धर्मबलेनाखण्डितं स्वरूपमासाद्य "अभिज्ञान"मिति कथ्यते। नान्दीपद्ये ईश्वरास्तित्वस्वीकारेण तत्स्वरूपगतत्वेनैव च समग्रसृष्टिनिर्वचनेन कविः धर्मविज्ञानस्य प्रथमं सूत्रमेवाविष्करोति। लोकधर्मिनाट्यधर्मित्वेन प्रवर्तमाना नाटकीया प्रस्तावना नाट्यधर्मविज्ञानस्यैहिकामुष्मिकं लोकद्वयसाधकं स्वरूपमपि नूनमेव निर्दिशति। धर्म इहलोकं परलोकं च युगपदभिव्याप्य प्रवर्तते। प्रस्तावनायाः मिथःकरणात्मकं पूर्वोक्तं पद्यद्वयमपि स्वधर्मेण शाकुन्तलं नाट्यजातं व्याप्नोतीति प्रतिपादितमेव। प्रास्ताविके ग्रीष्मर्तुवर्णने तप्ततरं ग्रीष्मदिवसमभिधाय सुखशीतला या ग्रीष्मनिशा व्यञ्जिता, तेन काव्ये कवेः काचिदेका धर्मपरा रमणीया काव्यसंस्कृतिरपि

प्रस्ताविता भवति। अग्रे "तवास्मि गीतरागेण" इत्यादिर्यः गीतात्मकः काव्योपक्षेपस्तत्रापि नाटकस्याभिज्ञानपरं धर्मविज्ञानं दर्शयिष्यते।

धर्मः सत्तात्मकः कथ्यते विज्ञानञ्च प्रक्रियात्मकं निगद्यते। काव्यलक्षणं सत्तामुखेनापि संभवति, प्रक्रियामुखेनापि संभवति। रसो हि काव्ये सत्तात्मको धर्मस्थानीयो स्वस्मिन्निरपेक्षः सन्नपि प्रक्रियात्मकं विज्ञानमपेक्षमाणस्तिष्ठति। प्रक्रियात्मकं काव्यगतं विज्ञानं तु सर्वथैव रसोन्मुखं भवेदिति नियमः प्रवर्तते। ध्वन्यात्मकेनालंकारपरेणौचित्यरीतिवक्रोक्त्यादिमुखेन वा काव्यगतविज्ञानेन काव्यरसः साक्षात्क्रियते। सत्ता निरपेक्षा भवितुमर्हति, किन्तु प्रक्रिया निरपेक्षा न युज्यते। प्रक्रियायामेव पर्यवसितो जनः सत्तासुखं नानुभवति। काव्यविज्ञानं काव्यधर्मं व्यञ्जयति। सुभगसलिलावगाहादिके पद्ये ग्रीष्मदिवसा यथा लोकगतां स्वाभाविकतां काव्ये व्यञ्जयन्ति, तथैव ईषदीषदित्यादिके पद्ये दयितानां सज्जमानता व्यङ्ग्यपरा भूत्वा महते काव्याय प्रवर्तते। व्यज्यमानो रस एवात्र परमोपनिषद्भूतः। तत्रैव च सचेतसां विश्रान्तिरिति शाकुन्तलीयं धर्मविज्ञानं प्रस्तावितं भवति। शाकुन्तलीयं धर्मविज्ञानमधिकृत्य तावदुच्यते–

वृत्तवन्ति सुमानि कथं विकिरन्ति सौरभाणि दिक्षु।
श्रूयते यदेतद्विज्ञानं कालिदासस्य नाटके तिष्ठति।।

व्यासङ्गं जानासि भोः धर्मं न जानासि
ध्वनिरयं पततु भौतिकस्य विज्ञानस्य कर्णे।
को व्यासङ्गः कश्च धर्म इति विवेकः
कालिदासादवगम्यतां तत्रैव शाकुन्तले।।

धन्या वसुमती यत्रोल्लासि शाकुन्तलं वियत्।
न तद् धर्मस्य विज्ञानं विना केनापि वीक्ष्यते।।

धर्मस्य व्याख्यानमेव धर्मविज्ञानमिति कथ्यते। धर्ममाधारीकृत्य प्रवर्तमाने मानवजीवने देशकालानुगतं विनाशकमपि बहुविधं विज्ञानं धारणात्मकं स्वरूपमाविष्कृत्य संतुलनाय संभवति। तदुक्तं केनापि हिन्दीकविना–

बिना धर्म के नहीं कभी भी फलीभूत होता विज्ञान।
यह भौतिक विज्ञान आज का लगता मुझको दण्डविधान।।

त्रिवर्गसाधने नाट्ये यावर्थकामौ भवतस्तावुभावपि धर्मानुविद्धावेव भवत इति जानन्ति विज्ञाः। अर्थस्तत्र पुरुषप्रधानः कामश्च स्त्रीप्रधानः श्रूयते। तयोरर्थकामयोर्विषये भवन्तु नाम विविधा महान्तो विवादाः। किन्तु धर्मान्वये सति तयोस्तत्र स्वान्तःस्यूतः संवाद एवोत्पद्यते। अर्थकामगतं विशृङ्खलमपि ज्ञानं धर्मान्वयेन विज्ञानमिति कथ्यते। तदेव हि धर्मविज्ञानं काव्ये कविरुल्लिखति। तदुच्यते–

यदर्थकामौ धर्मेण युज्येते काव्यवर्त्मनि।
तदेव धर्मविज्ञानं काव्ये पश्यन्ति सूरयः।।

तेषु च काव्येषु कविसमयानुरूपकाव्यगतधर्मविज्ञानव्यवस्थापनविषये कविकुलगुरोरभिज्ञानशाकुन्तलस्य नाम सर्वोपरि विद्यते।

नाटकस्य नाम दुष्यन्तपरत्वेन नोक्त्वा शकुन्तलापरत्वेन यदुच्यते, तस्यापि बीजमत्रैव सभ्रमरकुसुमावतंसाख्ये कविसमये विलोकयितुं शक्यते। काव्यस्यालंकारप्रधानत्वादलंकारप्रयोगे च नायिकाया एव प्राथम्यात् नायिकाभिमुख्येनैव नाटकस्य नाम कवये रोचते। नायिका एवात्र सगन्धं सरसं सभ्रमरञ्च कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नह्यति। नायको दुष्यन्तस्तत्र भ्रमरायमाणो लोकस्वभावमाविष्कुर्वाणो यद्यपि लोकप्रतिनिधिरूपेण प्रवर्तते, तथापि प्रभातरलं ज्योतिरात्मनः स्वरूपे बिभ्राणा निखिलामलोकसामान्यां सम्पत्तिं प्रकटयितुकामा शकुन्तलैव तत्र नवाभिधानपरतामादधाति। अभिज्ञानं

पुनरुभयत्र समानरूपेण युज्यमानमपि सामाजिकचेतसि काव्यस्य कान्तासम्मिततयोपदेशतया शकुन्तलापरत्वेनाधिकं युज्यते।

नाटकं घटनाप्रधानं भवतीति नाटकेऽस्मिन् सर्वा अपि घटनाः शकुन्तलामधिकृत्य प्रवर्तन्ते। कण्वः शकुन्तलायाः प्रतिकूलं दैवं शमयितुमेव सोमतीर्थं गतः। अतिथिसत्कारे नियुज्यमानां शकुन्तलां जानन्नेव दुष्यन्त आश्रमं प्रविशति। अम्बाभिराहूतोऽपि स एष दुष्यन्तः शकुन्तलायाः कारणादेव राजधानीं न परावर्तते। मिथः प्रणये दुष्यन्तस्य पक्षतः तथा आक्रामकता न दृश्यते, यथा बलवती ग्राहकता शकुन्तलायां विलोक्यते। तृतीयाङ्कान्ते सा लतावलयव्याजेन दुष्यन्तं भूयोऽपि स्वयमामन्त्र्य निर्गच्छति। गान्धर्वे च परिणये स्वयं सर्वङ्कषा भवति। यथा दुर्वाससः शब्दापनं न शृणोति, तथैव तस्य शापमपि न जानाति। दुर्वाससा शापिता सा मारीचाश्रमे स्वकं मातृत्वं प्रमाणयति। सर्वथा अप्सरःसंभवां तां पत्नीत्वेन परिग्रहीतुं दुष्यन्तस्तदा सामर्थ्यमावहति, यदासौ साक्षादिन्द्रसखा भवति। तदेवं शकुन्तलामेव घटयितुं नाट्यपरः कविवरः नाट्यनाम तत्परत्वेन किमर्थं न विदध्यात्।

नायकनायिकयोरुपस्थापनक्रमे कविर्यथा काव्ये व्यवहरति तथात्र ग्रीष्मर्तुसंकीर्तनपरेण पूर्वोक्तेन पद्यद्वयेन सम्यगेव प्रस्तावितं भवति। नायकाभिमानी सूत्रधारस्तत्र ग्रीष्मर्तुं पाठपरं परिचिनोति किन्तु नायिकाभिमानिनी नटी तमेव ग्रीष्मर्तुं गीतिमुखं विदधाति। अत्रोच्यते पारम्परिकेण कविना–

मोघमेव पाठपरे सति यूनि गायति युवती गीतमिति कथमुच्यते।
न केवलं यूनः पठन्ति सर्वमपि, युवत्योऽपि सर्वं गातुं प्रभवन्ति।।

स्वभावादेव पुरुषाणां पाठविधौ स्त्रीणां च गानविधौ प्रवृत्तिर्भवति। पाठापेक्षया गीतमधिकं प्रभावोत्पादकं भवतीति को न जानाति। यथा नक्षत्राणि

गगनं द्योतयन्ति, तथैव गीतान्यपि नाट्यमुद्योतयन्ति। नाट्ये गीतमहत्त्वमधिकृत्य भरतमुनिरेतदपि नाट्यशास्त्रे प्राह–

यथा वर्णादृते चित्रं न शोभाजननं भवेत्।
एवमेव विना गीतं नाट्यं रङ्गे न गच्छति।।
गीते प्रयत्नः प्रथमं हि कार्यः
शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतिम्।
गीते च वाद्ये च हि संप्रयुक्ते
नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति।।

अभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रस्तावनायां नटीप्रयुक्तेन गीतेन तन्मयः सूत्रधारः क्षणं सामाजिकतामुपगम्य स्वयं प्रस्तावितस्य प्रयोगस्य नाम विस्मरति। तेन गीते तन्मयताख्यो गुणधर्मः सम्यगुच्यते। किन्तु प्रयोगस्य नामविस्मरणादपि प्रयोगपरो विवेको न हीयते। स निजां तन्मयतां सामाजिकेषु समर्प्य नटीं पृच्छति "कतमं प्रयोगमाश्रित्य" इति। नटीद्वारेणानुबोधितश्च नाटकस्य नामनि तदेतदिति निजं प्रत्यभिज्ञानं महता कौशलेनोपस्थापयति। ततश्चान्ते गीतात्मकेनैव विज्ञानेन नाट्यवस्तु निपुणं साक्षादिव प्रस्तावयति–

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।।

अत्र 'अतिरंहसा' इति विशेषणपदं यथा सारङ्गेणेत्यस्य तथैव गीतरागेणेत्यस्यापि। तेन गीतरागस्य वेगातिशयप्रयुक्तः प्रभावातिशयो द्योत्यते। विशेषणसाम्येनोपमानोपमेयभावेन च गीतरागसारङ्गयोः पारस्परिकं सादृश्यमुपकल्प्य कविः प्रस्तुते काव्ये प्रयुक्तस्य काव्यधर्मस्य स्वरूपसंकेतमपि करोति। अहो, लोके मृगयाविहारिणो गीतरागेणाकृष्यमाणो मृगः काव्ये स्वयं गीतरागमयो भूत्वा मृगयाविहारिणमेव समाकर्षतीति विचित्रा काव्यगतिः।

अथ प्रथमोऽङ्कः

अभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रथमाङ्को मृगयाविहारेण प्रारभ्यते। मृग्यतेऽन्विष्यतेऽर्थोऽस्यामिति मृगया। सा च मृगया कामजो व्यसनविशेषः। तदुक्तं मनुना–

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः।।

अयं हि कामजो मृगयाख्यो व्यापारः स्वभावात् कामपरो नियमनाच्च धर्मपरो भवति। तेन निन्द्यत्वेऽपि प्रशस्यतां याति। तदुक्तं भागवते चतुर्थस्कन्धे षड्विंशेऽध्याये–

तीर्थेषु श्रुतिदृष्टेषु राजा मेध्यान् पशून् वने।
यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते।।

नैषधीयचरिते चापि–

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः।

मृगयाया नियमनं शाकुन्तले सुस्पष्टमवलोक्यते। वैखानसैः मृगसंहननं निषिद्धम्। आश्रमव्यवस्था भूतदया च तत्र कारणे स्तः। "आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि" इति क्षात्रधर्मोपदेशश्चाप्यत्र प्रतिफलति। यद्यपि मृगयायां राजभिः पशुमारणं न क्षात्रधर्मविरुद्धं भवति, तथापि तपसा सर्वोऽपि धर्मो नियम्यत इति तपस्विनां वचांसि शिरसि संधार्य राजा आश्रमव्यवस्थां परिपालयन् मृगव्यापादनाद्विरतो भवति। सद्यः विनयस्य फलं चाश्नुते। ऋषयो राज्ञे शुभाशीर्वचांसि वितरन्ति–

पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि।

"वाचमर्थोऽनुधावती"ति भवभूतेरुक्तिरत्र सर्वथैव संगच्छते। चक्रवर्ति–पुत्रप्राप्तेरुपक्रम इत एव प्रारम्यते। अकस्मादेव मृगयायाः कार्यक्रमस्तथात्वेन परिणतः। मृगयाव्यापारेणोच्चलितः कण्वाश्रमपरिसरे चोपनतः स राजा दुष्यन्तः कथं कुलपतिमसंभाव्य प्रस्थातुमर्हति। किन्तु कुलपतिरिदानीं शकुन्तला–मतिथिसत्कारे सन्नियुज्य प्रतिकूलं दैवमस्याः शमयितुं सोमतीर्थं गतः। शकुन्तलायाः प्रतिकूलं दैवं सोमतीर्थं चेत्युभयमपि कालिदासो न परिचाययति। तदुभयमपि स्वत एव व्यज्यते। अथवा महतां तीर्थयात्रा कदाचिद् गोपनीया भवति। सोमवंशे समुत्पन्नो दुष्यन्तस्तद्विषये न पृच्छति। शकुन्तलादुर्दैव–विषयकप्रश्नापेक्षया शकुन्तलासाक्षात्कार एव श्रेयानिति दुष्यन्तो विनीतवेषेण पुण्याश्रमं प्रविशति।

अत्र यद्विधं धर्मविज्ञानं तदुपन्यस्यते। शकुन्तला मेनकायाः पुत्री विद्यते। सा मेनका तपसां विघ्नकारिणी महेन्द्रेण विश्वामित्रतपोध्वंसाय संप्रयुक्ता। विश्वामित्रस्तामुपभुज्य तत्याज। सा च शकुन्तलां प्रसूय तां तत्रैव वने परित्यज्य दिवमुत्पपात। कण्वस्तामवलोक्य पुत्रीत्वेन पालयामास। किन्तु स तस्या भागधेयं जानाति। सा हि महर्षेः पितुरप्सरसश्च मातुः सन्ततिरस्ति। जीवनारम्भे पित्रंशमुपभुञ्जाना कण्वाश्रमे सा यौवनमुपगता। अग्रे मात्रंशमुपभुञ्जाना जीवनस्य कतमां कोटिमाचरिष्यतीति महती चिन्ता। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः। वरार्थिनी भवति कन्या। अनुरूपश्च वरः क्व लभ्यते? अप्सरसः कन्यायै कीदृग् वरो विचेयः? यः सुरपक्षपाती, यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति। तादृगनुरूपवरान्वेषणं विना दुर्दैवमेवास्याः कन्याया दरीदृश्यते। धर्मद्वारेण दुर्दैवमेतस्याः शमयितुं शक्नुयादिति धर्माङ्गभूतं सोमतीर्थमुपगतः कण्वः। धर्मपरा तीर्थयात्रा सद्य एव प्रतिफलति। सोमवंशावतंसो दुष्यन्तः स्वयमेव शकुन्तलामुपगतः।

उमया सह सोम इत्युच्यते। तेन हि प्रणयव्यतिकरोऽवतारितः। स च प्रणयः सधर्म एवेत्युच्यते। दुष्यन्तो हि भूमिपुत्रः, शकुन्तला च दिवो दुहिता। उभयोरेकोकरणे कण्वाश्रमः प्रयतते। तथात्वेन चोभयोर्लोकयोर्व्यवस्थापनक्रमे महर्षयः प्रयतन्ते। अथवा वानप्रस्थाश्रमो गृहस्थाश्रमं समुपकरोति। गृहस्थाश्रमो वा वानप्रस्थाश्रमस्य साहाय्यमर्थयते। तदेवं द्वयोर्लोकयोर्द्वयोराश्रमयोर्वा परस्परमभिमुखीकरणेन धर्मस्य तत्त्वमेव पुरस्क्रियते। तथाविधधर्मतत्त्व–सद्भाववशादेव शकुन्तलादुष्यन्तयोः प्रणयकथा लतापादपादुत्थाय देवेन्द्रलोकं संस्पृश्य हेमकूटशिखरे सम्पन्नतां याति।

दुष्यन्तः पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनातुं कण्वाश्रमं प्रविशति। आश्रमकन्यकाश्च स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। ताः कन्यकाः निपुणं निरीक्ष्य दुष्यन्तो वदति "अहो, मधुरमासां दर्शनम्।.. यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि" इति। अत्र "छायामाश्रित्य" इति तस्य कथनं विशेषरूपेण विचारमर्हति। छायाया आश्रयणमित्यस्य कस्तावदर्थः? वृक्षच्छायाश्रयणमिति सामान्योऽर्थः, विशेषार्थोऽपि बोद्धव्यः।

महान्तो जनाः संज्ञां संगोप्य कदाचित् छाययापि व्यवहरन्ति। सोऽयं दुष्यन्तस्य छायाव्यवहारः यावदत्र नावधार्यते तावदिह काव्यार्थावगमो नैव संभवति। छाया कान्तिरिति प्रभा वेति पर्यायतया श्रूयते। किन्तु क्वचित् छायाप्रभयोर्मध्ये भेदोऽपि दृश्यते। प्रभाश्रिता सत्यपि च्छाया प्रभातो भिन्ना भवति। तदुक्तमिन्द्रियस्थाने चरकेण–

वर्णमाक्रामति च्छाया भास्तु वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ना लक्ष्यते च्छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते।।
नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद् विशेषात् चिन्हयन्ति तु।
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले च्छायाः प्रभाश्रिताः।।

योगप्रदीपिकायां गगनगतस्वीयच्छायापुरुषदर्शनं प्रतिपादितम्। ज्योतिर्विद्यायां लीलावत्यां त्रैराशिकश्छायाधिकारश्चर्चितः। काव्यमार्गे छायानाटकस्याध्ययनं प्रचलति। अभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रस्तुते प्रसङ्गेऽपि च्छायानाटकस्य तत्त्वानि नूनमेव स्वीकार्याणि भवन्ति। कथमन्यथा "यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः, सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः" इति संगच्छेत। कथं वा शकुन्तलामनृणां कर्तुमङ्गुलीय–कप्रदानावसरे "अलमन्यथा संभाव्य, राज्ञः परिग्रहोऽयम्" इति कथनं वाक्छलं वितथं वा न स्वीक्रियेत। कथञ्च द्वितीयाङ्कान्ते विदूषकं प्रति "न खलु तापसकन्यायां ममाभिलाष" इति दुष्यन्तवचनं मिथ्यात्वेन न परिगण्येत। वस्तुतश्छायया व्यवहरन् जनः स्वच्छायातस्तटस्थो भवति, तस्मादेवं वक्तुं प्रभवति।

एवं तावदत्र बोद्धव्यम्। यावन्तं लोकं राजा शास्ति, तावान् लोको राज्ञश्छायानुवर्ती भवति। राजा लोकानुरञ्जनादिति यदुच्यते तत्र लोकानुरञ्जने राजा द्विधा प्रवर्तते। छाययाऽनुगृहणाति, प्रभुतया चानुशास्ति। लोके स्वच्छायावलोकनं शासनं चेत्युभयमपि राजधर्मानुगतं स्वीक्रियते। लोकशासनावसरे लोकस्वरूपं राजस्वरूपानुरूपं समञ्जसितं भवति, किन्तु लोके स्वच्छायाप्रदानावसरे लोकस्वरूपानुगामित्वेन राजस्वरूपं विकृतमपि विलोकितं भवति। तस्मादेव राजा तत्र लोकगतस्वच्छायावलोकनक्रमे सर्वथा ताटस्थ्यमवलम्बते। तत्कथं तटस्थे जने दोषो दीयेत?

छायाव्यवहारो धर्मानुरोधादेव स्वधर्मानुरूपः प्रवर्तत इति नासौ निन्दाविषयः। धर्मिणो धार्यमाणविषयतादात्म्यापत्तिरेव च्छायात्मके व्यवहारे कारणतां याति। तेन धर्मविज्ञानान्तर्गतत्वेन छायाविज्ञानमुपस्थातुं युज्यते। साक्षाद्धर्मे स्वरूपावस्थितिश्छायाधर्मे धार्यमाणलोकस्वरूपावस्थितिरिति भेदस्तत्र दृष्टिगतो भवति। छायाप्रयोगे धार्यमाणलोकस्वरूपावस्थितिः स्वतस्त्वेन परतस्त्वेन

चेति धर्मिणि द्विधा प्रवर्तते। परतस्त्वेन धार्यमाणलोकस्वरूपावस्थश्छायाप्रयोगो नाटकेषु बहुत्र विलोक्यते। स्वतस्त्वेन धार्यमाणलोकस्वरूपावस्थश्छायाप्रयोगः पुनरत्र शाकुन्तले द्रष्टुं शक्यते।

दुष्यन्तस्य सार्वभौमिकं चरित्रमनुरुध्य कालिदासेनात्र शकुन्तलायां तदीयः प्रणयः लतापादपादुत्थापितः। दुष्यन्तो यदैवाश्रमं प्रविशति, शकुन्तला बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तते। दुष्यन्तश्च पादपान्तर्हितो विस्रब्धं तावदेनां पश्यति। शकुन्तलायाश्चापि लतादिषु सोदरस्नेहो वर्तते। केसरवृक्षकः वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्तामाह्वयतीव। स्निग्धा शकुन्तला केसरवृक्षमुपस्थाय तिष्ठति। प्रियंवदा कथयति त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभातीति। दुष्यन्तोऽपि समर्थयते—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।।

दुष्यन्तः पादपान्तर्हितः, शकुन्तला तत्र पादपे लतात्वेन परिगता। इतोऽग्रे कविः शकुन्तलायाः कामभावसमर्थकं स्वभावं स्फोरयन् पूर्वतनं प्राकृतिकं प्रणयवृत्तान्तमग्रे सारयति। अप्सरःसंभवा सा शकुन्तला कामपि नवमालिकां स्वात्मनः प्रतिरूपां स्वीकृत्य वनज्योत्स्नेति तन्नामकरणं विधाय सहकारस्य स्वयंवरवधूत्वेन तामिमां पुष्पलतां प्रतीक्षमाणा तिष्ठति स्म। तदिदानीं लतापादपालवालपूरणक्रमे तामेव नवमालिकामुपेत्य विलोक्य चाभिधत्ते—

"हला, रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतया च उपभोगक्षमः सहकारः।"

इति लतापादपमिथुनं चिरं पश्यन्ती तिष्ठति। तदानीं तां तथा विलोक्य प्रियंवदा अनसूयां प्रत्याह–

"अनसूये, जानासि किन्निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्ना–मतिमात्रं पश्यति। यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता, अपि नाम एवमहमपि आत्मनोऽनुरूपं वरं लभेय इति।"

तदेवं स्थावरेणापि प्रकृतिस्वरूपेण लतापादपमैथुन्यव्यतिकरेण प्रणयात्मकं यत्किमप्युपस्थापितम्, तत्सर्वमपि शकुन्तलायाः पक्षे संघटय्य दुष्यन्तः शङ्कते "अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्या" दिति। यतो हि शाश्वते ब्रह्मणि स्थितस्य महर्षेः कण्वस्य औरसी कन्या कथमेवं कामपरतामर्हति। **"अथवा कृतं सन्देहेन–**

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः।।
तथापि तत्त्वत एवैनामुपलप्स्ये।"

इत्येतस्मिन् दुष्यन्तवचने धर्मस्य सुस्थिरः स्वरः सुस्पष्टं श्रूयते। ये हि साक्षात्कृतधर्माणस्त एव खल्वेवं वक्तुमर्हन्ति। अत्र यो हि यथार्थः स तु स्वीकृत एव, यश्च परमार्थः सोऽपि तत्त्वतः स्वीकरिष्यत एवेति प्रतिज्ञातः। न हि धार्मिको जनः परमार्थं विनैव यथार्थं स्वीकरोति, अपितु परमार्थं प्रापयितुमेव यथार्थं स्वीकरोति। परमार्थस्य परिज्ञानेन यथार्थस्य स्वीकरणं धर्मविज्ञानमित्युच्यते। अन्तःकरणसाक्षित्वेन स्वतः प्रामाण्यवादस्त्वत्र स्वीकृत एव, तात्त्विकेन परिज्ञानेन परतः प्रामाण्यवादोऽपि स्वीकरिष्यत एवेति प्रतिज्ञातः। परतस्त्वेन प्रतिज्ञातं स्वतस्त्वं धर्मविज्ञानमित्युच्यते। पूर्वोक्ते दुष्यन्तवचसि 'अस्यामभिलाषि मे मनः' इत्यस्ति पूर्वार्धम् 'तत्त्वत एवैनामुपलप्स्ये' इत्यस्ति

चोत्तरार्धम्। पूर्वार्धेन प्रक्रिया प्रारभ्यते, उत्तरार्धेन च सत्तास्वरूपमुपस्थाप्यते। विज्ञानं प्रक्रियात्मकं धर्मश्च सत्तात्मक इति पूर्वमेवोक्तम्।

विज्ञानसंवलितस्य धर्मस्योपस्थापनक्रमस्तु ग्रन्थान्तं प्रचलिष्यति। अत्र लतापादपव्यतिकरेण शकुन्तलायाः प्रणयप्रवृत्तिमुपस्थाप्य तिर्यग्व्यवहारातिरेकेण भ्रमरवृत्तान्तेन दुष्यन्तस्य प्रणयप्रवृत्तिरुपस्थाप्यते। तदेतदुभयमपि छायात्मकं विज्ञानमेव प्रतीयते, न प्रकाशकं विज्ञानमिति वक्तुं युज्यते। यदापि 'न भेतव्यं न भेतव्य'मिति धृष्टभ्रमरविनिवारणव्याजेन दुष्यन्तः प्रकाशमागच्छति, तदापि 'यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः, सोऽह' मित्यादिरूपेण प्रकाशकतायामपि छायात्मकतैव पुरस्क्रियते। मृगयाव्यापारेण वनमुपगतो दुष्यन्तः कथयति 'पुण्याश्रमदर्शनप्रसङ्गेन धर्मारण्यमिदमायात' इति। स्वयं राजा सन्नपि राजपुरुषरूपेणात्मानं प्रकाशयति। मेनकाविश्वामित्रयोरपत्यतया शकुन्तलाया- स्तात्त्विकं परिचयं प्राप्त्वापि तामनृणां विधातुमङ्गुलीयकप्रदानावसरे पुनरप्यात्मानं गोपयति। दीयमानेऽङ्गुलीये नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परिचयधिया परस्परमव- लोकयन्त्यौ सख्यौ स्वपरिचयग्रहान्निषेधति "अलमस्मानन्यथा संभाव्य। राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ" इति। तदेतदात्मगोपनं प्रकाशकतायामपि छायात्मकमेव।

छाया प्रकाशमाश्रित्य प्रवर्तत इति पूर्वोक्तेन चरकवचनेन प्रतीयते। तस्मादत्र स्वपरिचयप्रकाशनक्रमे यदात्मगोपनं तच्छायात्वेन सयुक्तिकमेव प्रतिभाति। किन्तु प्रकाशमानं स्नेहोपहारमाश्रित्य योऽयं छायाव्यवहारः प्रायोजितस्तत्र किं कारणं किञ्च प्रयोजनमिति बलीयान् प्रश्नः। तदुत्तरतया धर्मविज्ञानं बोद्धव्यं भवति। यत्किमपि घटते तदात्मनो धारणात्मकेन स्वभावेन बहुतरं पूर्वतनं बहुतरमग्रेतनं च संधार्य संघटते। विश्वामित्रमेनकाप्रणयप्रसंगोऽत्र दुष्यन्तशकुन्तलाप्रणयप्रसंगे यथोचितपरिवर्तनेन सह धर्मबलादवश्यमेव सम्बद्धयते। दुष्यन्तविश्वामित्रौ द्वावपि सोमवंशीयौ स्तः। विश्वामित्रस्य तथोक्तः

परित्यागपरः प्रणयोऽत्र दुष्यन्ते देशकालानुरोधबलाच्छायात्मकेन विधिना परिवर्तितः। धर्मविज्ञानस्याङ्गत्वेन कर्मविज्ञानं प्रतिफलति। नैतदाधुनिकेन भौतिकेन विज्ञानेन बोद्धुं शक्ष्यते।

राजा कामेन प्रजाजनं निगृह्णाति, धर्मेण च परिष्करोति। निग्रहकाले विरुद्धोऽपि जनः समादृतो भवति, परिष्कारकाले चात्मीयोऽपि जनः प्रताडनामर्हति। इत्येवं राजनीतिः प्रचलतिः। तदनुसारेण प्रवर्तमाने प्रणयप्रसंगे राजा दुष्यन्तः प्रजानुकूलाभिश्छायाभिर्व्यवहरति। निग्रहक्रमे निजेन कामभावेन राजा प्रजासु छन्नश्चरन् न दूष्यते।

प्रणयप्रसंगे कस्तावदाद्यो हेतुः स्त्री वा पुरुषो वेति महानत्र विवादः। अकामां नैव कामयेदिति धर्मोपदेशस्तत्र श्रूयते। शकुन्तलां विलोक्य दुष्यन्तो विचारयति– "किन्नु खलु यथा वयम् अस्याम्, एवं इयमपि अस्मान् प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः–

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः।।" इति

प्रणयो हि द्विःस्थः श्रूयते। नैकाकी कश्चित् प्रणयी भवति। उभयप्रार्थनः कथ्यते प्रणयः। सख्याः परिहासोदाहृतां शकुन्तलाया वरप्रार्थनां श्रुत्वा दुष्यन्तस्य मनः पूर्वं द्वैधीभावकातरं ह्यासीत्। दुष्यन्तदर्शनात् पूर्वमेव यदि शकुन्तलायाः काचिद् वरप्रार्थना, तर्हि कदाचिदेतस्यास्तापसकन्यायाः कश्चिद् वरोऽपि पूर्वतः सुनिर्धारितो भवेत्। तस्यामवस्थायां तां प्रति दुष्यन्तस्य प्रणयो न युज्यते। एकमुखीना प्रार्थना प्रणये रतिं न जनयति। उभयप्रार्थना रतिं कुरुते।

तदेवमभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रथमाङ्के उभयतोऽपि च्छायावगाहि प्रणयवृत्तान्तमुपन्यस्तम्। एकत्र क्षत्रियमुनेरप्सरसि प्रसूता कण्वाश्रमव्यवस्थायां यौवनमुपगता धर्माचरणेऽपि परवशा शकुन्तला। अपरत्र मृगयाविहारी राजा कण्वाश्रमे राजपुरुषरूपेणोपस्थितो दुष्यन्तः। उभयतोऽपि च्छायावगाहिनी प्रवृत्तिरवलोक्यते।

छाया हितकरी भवति अहितकरी वा भवतीति न जाने। किन्तु कामसंतप्ता जनाश्छायामाश्रयन्ते। नेपथ्ये कस्यचित्तपस्विनः स्वरः श्रूयते "भो भोस्तपस्विनः, सन्निहितास्तपोवनरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्त" इति। तच्छ्रुत्वा दुष्यन्तश्चिन्तयति "अहो धिक्, पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति। भवतु, प्रतिगमिष्यामस्ताव" दिति। किन्तु मिथः प्रस्थाने शकुन्तलाया द्वावपि चरणौ कुशसूचिपरिक्षतौ संजातौ, वल्कलं च तस्याः कुरबकशाखापरिलग्नं विलम्बेनैव मोचयितुं युज्यते। दुष्यन्तश्च न शक्नोति शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। तथा हि–

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।।

अथ द्वितीयोऽङ्कः

अहो, मातरः पुत्राणां हितकामनया किं किं न कुर्वन्ति। दुष्यन्तस्य मातरो दुष्यन्तस्य सौख्याय 'पुत्रपिण्डपालनं' नाम व्रतं कृतवत्यस्तिष्ठन्ति। पुत्राः पितृभ्यः पिण्डं प्रयच्छन्ति। मातरः पुत्राणां तदेतत् पारलौकिकं कर्तव्यमनुसंदधानाश्चिन्तापरास्तिष्ठन्ति। पौत्रद्वारेण पुत्राणां पारलौकिकीं तृप्तिमपि काले साधयितुं प्रयतमानास्तिष्ठन्ति। कुलप्रसूतिपरम्परायामविच्छिन्नायां सत्यामेव कुलस्य निःश्रेयसाभ्युदयसिद्धिरिति प्रौढकुलाङ्गनाभ्योऽधिकं को जानीयात्। दुष्यन्तस्त्विदानीं कौलिके कर्मणि व्यापृतः स्वकं कुलमप्याच्छाद्य कमनीयकामोपभोगव्यापारे परवशस्तिष्ठति। इदानीमेवंप्रकारेण प्रक्रान्तस्य कामतन्त्रस्य पारलौकिकः पक्षस्तु तस्याक्ष्णोः पुरः षष्ठेऽङ्के भवत्युद्घाटितो यदासौ तदेतदवधार्य मूर्छितो भवति। तथा हि तत्र तन्मुखेनैव—

अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुसेकमुदकं पितरः पिबन्ति।।

इह त्वसौ दुष्यन्तो नैतदनुभवति। किन्तु तस्य मातर इहैव द्वितीयेऽङ्के तद्विषयकं पारलौकिकं विचिन्त्य तत्रत्यं नैराश्यं निराकर्तुं व्रतमातिष्ठमाना— स्तिष्ठन्ति। पुत्रपरम्परया पितृभ्यः पिण्डव्यवस्थां परिपालयितुं पुत्रपिण्डपालनो नामोपवासस्तासां प्रवर्तते। व्रतोपवासपरायणाभिस्ताभिरम्बाभिः प्रेषितस्तासा— माज्ञप्तिहरः करभको नगरादागतः कण्वाश्रमपरिसरे दुष्यन्तमुपगम्य राजमातुः

सन्देशं व्याहरति– "आगामिचतुर्थदिवसे पुत्रपिण्डपालनो नाम प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषा अवश्यं संभावनीया" इति।

किन्तु दुष्यन्तस्तु साम्प्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति। शकुन्तलामनुस्मृत्य मृगयायामपि तस्य मनो निरुत्सुकं जातम्। स तु केनापि व्याजेन पुनरेकवारमाश्रमे गत्वा प्रेयसीं शकुन्तलां द्रष्टुमिच्छति। तामधिकृत्य तस्य मनसि प्रचलति–

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै–
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।

अस्यां मनःस्थितौ स्थितस्य दुष्यन्तस्य कृते द्वौ सन्देशौ सम्प्राप्तौ। कुलपतेरसान्निध्याद्रक्षोभिर्विहितविघ्नानामपसारणे कतिपयरात्रं यावदाश्रमवासिनो दुष्यन्तस्य सहयोगं वाञ्छन्तीति प्रथमः सन्देशः। राजभवने मातरः पुत्रपिण्डपालनव्रतोपवासपारणावसरे दुष्यन्तं स्वपुत्रं द्रष्टुमिच्छन्तीति द्वितीयः सन्देशः। इतस्तपस्विकार्यम्, इतो गुरुजनाज्ञा। द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्। किमत्र प्रतिविधेयम्। अत्र स्वकीयां मनःस्थितिं प्रकटीकुर्वन् दुष्यन्तः पद्यमेकं पठति। तत्पद्यमस्ति–

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा।।

अस्मिन् पद्ये प्रतिहतमिति पदं स्रोतसो विशेषणं भवति। पुरः शैले प्रणिहिते सति यथा स्रोतोवहः प्रतिहतं स्रोतो द्वैधीभवति, तथैव कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् मे मनोऽपि द्वैधीभवति। सरितः स्रोतसि समक्षमुपस्थिते

शैले स्रोतः प्रतिहतं तत्रैवावरुद्धं न भवति, अपितु पुरः प्रणिहिते सति शैले पूर्वत एकमेव स्रोत इदानीं द्विःस्रोतस्त्वेन परिणमते। दुष्यन्तस्य यदेकं मनस्तदेव द्विर्भवति। दुष्यन्तस्य मन आश्रमवासिनां सन्देशं यथा समभिव्याप्य प्रवर्तते, तथैव पुत्रपिण्डपालनव्रतोपवासपारणपरं मातॄणां सन्देशमपि समभिव्याप्य प्रवर्तते। पुरः सति शैले स्रोतोवहः प्रतिहतं स्रोतो यथा भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति द्विधात्वेन परिणमते, तथैव कृत्ययोः=सन्देशयोः भिन्नदेशत्वाद्= कारणवशाद् दुष्यन्तस्य मनोऽपि प्रतिहतं = चिन्तितं सद् भिन्नदेशत्वादेव= इतस्तपस्विकार्यम्, इतो गुरुजनाज्ञा चेत्यनयोर्भिन्नदेशत्वादेव द्वैधीभवति=द्विधात्वेन प्रवर्तते। तपस्विकार्यं गुरुजनाज्ञां चाधिकृत्य दुष्यन्तस्य द्वैधीभूतं मनः शकुन्तला यथा पुनरेकीकृत्य स्वस्मिन्नाकर्षति, तदग्रे प्रतिपादयिष्यते।

मातुः पुत्रपिण्डपालनं नाम व्रतं येन पथा सफलं भवितुमर्हति तदतिनिपुणं विचार्य दुष्यन्तो विदूषकं प्रत्याह "सखे, त्वमम्बाभिः पुत्र इति प्रतिगृहीतः। अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति" इति। किमर्थं दुष्यन्तो विदूषकं मिथ्या संदिश्य नगरं प्रेषयतीति कालिदासः स्वयमेव तस्य गभीरस्य प्रश्नस्योत्तरं रहस्यगर्भितया हेलया लिखति। दुष्यन्तस्य निदेशं सम्प्राप्य विदूषकस्तत्र वदति "यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि" इति। दुष्यन्तः समर्थयते "ननु तपोवनरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकाँस्त्वयैव सह प्रेषयामि" इति। विदूषकः प्रसीदति "ही ही, युवराजोऽस्मि इदानीं संवृत्तः" इति।

अत्र यथा विदूषको दुष्यन्तानुजत्वेन युवराजत्वेन च समर्थितस्तथैव दुष्यन्तोऽपि विदूषकत्वेन प्रदर्शितः। यथा विदूषको दुष्यन्तस्य मित्रमस्ति, तथैव दुष्यन्तोऽपि विदूषकस्य मित्रमेवास्ति। मित्रयोर्मध्ये हासपरिहासस्तु प्रचलत्येव। प्रवर्तमानस्याङ्कस्य प्रारम्भे विदूषकेण यथा स्वाङ्गभङ्गविकलता राजव्यवहारे समारोपिता, तथैव प्रवर्तमानस्याङ्कस्यावसाने राजा विदूषकस्य

स्वाङ्गभङ्गविकलतां स्ववचसि धारयते। संसर्गस्तु प्रतिफलत्येव। क्वचिद् राजा विदूषको भवति, क्वचिद् विदूषक एव राज्ञः प्रतिनिधिर्भवति। किन्तु तत्रापि तयोरेकैकयोर्द्वैधीभावेऽपि स्वधर्मः सुरक्षितस्तिष्ठति। अत एवान्ते दुष्यन्तस्य वचो द्वैधीभावेन प्रवर्तते स्वात्मगतत्वेन परप्रकाशनत्वेन च। तद्यथा–

राजा–(आत्मगतम्) **चपलोऽयं बटुः। कदाचिदस्मत्प्रार्थनाम् अन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु, एनमेवं वक्ष्ये।** (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा) **वयस्य, ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यायां ममाभिलाषः। पश्य**–

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे
परमार्थेन न गृह्यतां वचः।।

अत्र यदात्मगतया वाचा प्रवर्तते, तत्र स्वधर्मः सर्वथैव सुरक्षितः प्रतीयते। यत्पुनः प्रकाशेन प्रोच्यते, तेन धर्मसामान्यस्य संक्रमणशीलता तावदन्योऽन्येन संगम्यते। पद्ये पुनः तृतीयासप्तम्योर्वैज्ञानिकेन प्रयोगेण सर्वमपि सुसमञ्जसितम्। हे सखे, परिहासविजल्पितं मम वचः परमार्थे न गृह्यतामिति न। इत्येवं तृतीयार्थः सप्तम्यर्थेन सम्बध्नातुं युज्यते। तृतीयार्थः मातरं प्रति धावति, सप्तम्यर्थश्च शकुन्तलामुपढौकते।

दुष्यन्तस्य मनःस्थितिविनिर्माणे पूर्वं केवलं शकुन्तलाया एव कारकता आसीत्, परमिदानीं शकुन्तलाया दुष्यन्तमातुश्चेति द्वयोरपि कारकता सम्पन्ना। मातरि करणकारकता सम्पद्यते, शकुन्तलायां चाधिकरणकारकता प्रसज्यते। मातृभिः पुत्रपिण्डपालनं नाम यद् व्रतं विहितम्, तस्य फलमेव दुष्यन्तस्य

शकुन्तलाविषयकमनोवृत्तिविर्निमाणेऽधुना दृढं प्रतिफलितम्। अन्यथा निजान्तःपुरे दारेषु सत्स्वपि किमर्थं दुष्यन्तस्य मनः शकुन्तलायां प्रवर्तेत। दुष्यन्तमधिकृत्य दैवज्ञानां फलादेश आसीत् "त्वं प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसी"ति। चक्रवर्तिपुत्रप्राप्तिप्रयुक्तमातृत्वविनिर्माणे शकुन्तलायाश्चरित्रमिदं भारतीयसंस्कृतौ महर्षिभिर्निपुणमाविष्कृतमिति वयं जानीमः। धरायां चक्रवर्तिसम्राडानयनविधौ महत्सु काचिद् भारतीया योजना कण्वाश्रमे सम्पद्यते। इन्द्रः इन्द्रसखा दुष्यन्तश्च परस्परं स्वर्लोकभूलोकयोः सामञ्जस्यसाधने प्रयतमानौ स्तः। एतयोः द्वयोरपि सहयोगाय द्वौ ऋषिप्रवरौ विधिपूर्वकं प्रयतेते। विश्वामित्रस्तत्र स्वर्गीयसंस्कारसम्पन्नां शकुन्तलां मेनकायामाहरति। कण्वश्च तां भूलोकोपयुक्तां सम्पाद्य राज्ञे दुष्यन्ताय समर्पयते।

विश्वामित्रो दुष्यन्तश्चेति द्वावपि सोमवंशावतंसौ क्षत्रियौ स्तः। विश्वामित्रस्यौरसीं कन्यां शकुन्तलां विवाहयोग्यां विलोक्य कण्वस्तद्विवाहकामनया तदीयजनयितृपितृकुलानुरूपं सोमतीर्थं प्राप। पालयितुः पितुः सोमतीर्थगमनादुत्प्रेरित इव सोमवंशोद्भवो राजा दुष्यन्तो मृगयाव्याजेन कण्वाश्रमं प्रविशति। कण्वाश्रमस्तु धर्मारण्यमिति कथ्यते। तदुक्तं महाभारते—

कण्वाश्रमं ततो गच्छेत् श्रीजुष्टं लोकपूजितम्।
धर्मारण्यं हि तत्पुण्यमाद्यञ्च भरतर्षभ॥ ३.८२.४४

तत्र धर्मारण्ये सोमान्वयमभिव्याप्य या संस्कारयोजना प्रचलति, तदनुकूलमेव दुष्यन्तमातुः पुत्रपिण्डपालनं नाम व्रतोपवासविधानं प्रतीयते। दुष्यन्तस्य मनोवृत्तिश्चाधुना मातुः व्रतोपवासाद्यनुकूला भूत्वैव शकुन्तलोन्मुखीना प्रवर्तते। यतः शकुन्तलायां पुत्रोत्पादनेनैव मातुरभीष्टं फलिष्यति।

अथ तृतीयोऽङ्कः

तृतीयाङ्के दुष्यन्तः शकुन्तलां विना न स्थातुमर्हति। शकुन्तलापि दुष्यन्तविषयकेणाभिलाषेण बलवदस्वस्था। मालिनीतटे वेतसकुञ्जे तस्याः कामज्वरं परिचर्यमाणाभ्यां सखिभ्यां प्रेरिता सा नलिनीपत्रे मदनलेखं करोति–

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवस इव रात्रावपि।
निर्घृण, तपति बलीयस् त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि।।

शकुन्तलैकशरणो दुष्यन्तः शकुन्तलामन्विष्यमाणः पूर्वत एव कुञ्जद्वारे विटपान्तरितः कुञ्जे शिलापट्टमधिशयानां शकुन्तलामवलोकनपरस्तस्य मदनलेखवाचनं श्रुत्वा सहसा समुपसृत्य शकुन्तलां प्रोवाच–

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः।।

इतोऽग्रे तयोरेतयोर्यूनोरैकान्तिकं निधुवनविलसितमवधार्य ततः प्रस्थातुकामा सखी प्रियंवदा सदृष्टिक्षेपं तावदपरां सखीमनसूयामाह–

"अनसूये, यथा एष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति, एहि, संयोजयाव एनम्।"

अत्र व्यङ्ग्यप्रियः कविः कालिदासः किमप्यतिरिक्तमपि वक्तुमुत्सहते। मालिनीतटे वेतसकुञ्जपरिसरे कश्चिदेको मृगशावकः स्वकीयां मातरं मृगीमन्विष्यति। मृगशावकस्य स्वमातृविषयकं यदन्वेषणं तत्र सहायतां वितरीतुं सख्यौ कुञ्जतो बहिः प्रस्थिते भवतः। तेन तयोः प्रस्थानं पक्षद्वयेन संघटितं भवति। कुञ्जे यूनोरेकान्तप्रदानमिति प्रथमः पक्षः। बहिः मृगशावकस्य निजमात्रा

संयोजनमिति द्वितीयः पक्षः। तदेतदुभयमपि काव्यत्वप्रयोजकम्।

मातुरुपवासपारणावसरे समाहूतोऽपि दुष्यन्तस्तत्र न गतवान्, इह पुनरसौ शकुन्तलायाः पदपंक्तिं मार्गयमाणो नद्यास्तटे वेतसकुञ्जे तामधिगतवानिति कस्तावदयं तस्य नयः। माता वा प्राधान्यमर्हति, भाविनी पत्नी वा प्राधान्यमर्हति। किं मातरं सम्मिल्य तदनन्तरं पुनरत्र नागन्तुं युज्यते स्म। मातुः सन्देशाधिगमात्पूर्वमेव यदाश्रमवासिनामाश्रमरक्षाविषयकः सन्देशः समधिगतस्तत्कारणादेव कदाचिदाश्रमे दुष्यन्तस्यावस्थितिरावश्यकी जातेति यदुच्यते तत्रापि भवत्येव प्रश्नः। राजकीया या सेना विदूषकेण सह राजधानीं प्रेषिता, किं तया सेनया कण्वाश्रमस्य सुरक्षा न भवति स्म। उचितं त्वेतदेव प्रतीयते यदेष दुष्यन्तो राजधानीं गच्छतु, तदीया सेना च कुलपतेरागमनात्पूर्वं यावदाश्रमं रक्षत्विति। "सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम" इति चेदाश्रमवासिनां सन्देशः शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रवदक्षरशोऽवधार्यते, किमर्थं मातुर्विषये तेनैव विदूषकायते। आज्ञा गुरूणामविचारणीयेति धर्मोपदेशस्तत्रो–ऽयत्रापि समानं युज्यते। अपितु गुरुषु मातैव गरीयसी कथ्यते। तत्किंप्रयुक्तोऽयमाश्रमवासिषु पक्षपातः। निश्चयेन शकुन्तलैव तत्र प्रयोजिका भवति। शकुन्तलायाः कारणादेव दुष्यन्तो निजमातरं नाभ्युपैति। तेन प्रियंवदा यदाह "मृगपोतको मातरमन्विष्यती"ति तदेतदस्याः कथनं यद्यपि सखीमनसूयां प्रत्येति, तथापि दुष्यन्तं शकुन्तलां चापि नूनं स्पृशत्येव। दुष्यन्तं शकुन्तलां च संश्राव्यैव कथनमिदं प्रवर्तते। तयोः कृते कथनमिदं कटुकायत इति केचन कथयन्ति। तद्वयं नामनामः।

यूनोः शृंगारभोगं प्रति चेदसूयया कथनमिदं प्रवर्तेत, तदा तत्र कटुकता संभवति। किन्तु प्रियंवदायाः कथनमिदमनसूयां प्रत्येतुं प्रवर्तते। असूया वा कटुकता वा कथमत्र कालिदासस्य शृंगारभोगे युज्यते। वस्तुतोऽनसूयामधिकृत्य

प्रवृत्तं प्रियंवदायाः कथनमिदं यूनोः शृङ्गारभोगे शुभं शकुनायते। गान्धर्वेण विधिना यो हि शृंगारभोग इदानीमेतयोर्यूनोरुपस्थितः, स सन्तानोत्पत्तिपरः स्यादिति कामनयैव "मृगपोतको मातरमन्विष्यती"ति शुभा वाणी प्रवर्तते। तेन सर्वमपि समञ्जसितं भवति। दुष्यन्तस्य मातुः पुत्रपिण्डपालनव्रतोपवासस्य फलमपि नूनमत्र संधीयते।

मातृत्वं परम्परामधिकृत्य प्रतिफलति। स्त्रीजातिस्तत्र द्विधा प्रवर्तते। मातृत्वेन पत्नीत्वेन चेति। पितृत्वमपि परम्परायां प्रतिफलति। पुरुषस्तत्र द्विधा प्रवर्तते। पितृत्वेन पुत्रत्वेन चेति। धर्मस्तत्रोभयत्रापि समायोजको भूत्वा प्रवर्तते। तदेव धार्मिकं समायोजनं हृदि निधाय प्रियंवदा सखीमनसूयामाह "एहि, एनं संयोजयाव" इति।

किन्तु शकुन्तलापरिग्रहे दुष्यन्तस्य स्वाभाविकता वा विवशता वेति विचारोऽवशिष्यते। स्वभावसिद्धाः प्रभवन्ति महान्तो जनाः। तेन दुष्यन्तो नैवात्र विवशः स्वीकर्तुं युज्यते। वैवश्ये तु भोग एव प्रतिफलति, न धर्मः। धर्मस्तु सुस्थिरे स्वभावे स्वात्मानमाविष्करोति। स्वभावस्य सुस्थिरता कर्तव्याकर्तव्यविवेक इत्युच्यते। विवशता चात्र कामान्धतां पर्येति। चतुर्वर्गान्तर्गतत्वेन कामभावो न कस्यापि कृते निषिद्धः। सुस्थिराणां कृतेऽपि कामो नाम पुरुषार्थः संग्राह्य एव। तथापि तत्र धर्मानुरूपा प्रवृत्तिः स्वाभाविकतां परिचिनोति, अधर्मानुरूपा प्रवृत्तिश्च कामान्धतां पुरस्करोति। शकुन्तलायां दुष्यन्तस्य प्रणयो धर्मानुरूप एव प्रवर्तते। चक्रवर्तिपुत्रप्राप्तेरुपायभूतः सोऽयं प्रणयः कथमधर्मानुरूपो वक्तुं युज्यते।

अभिज्ञानशाकुन्तले दुष्यन्तः स्वकीयं सुस्थिरं स्वभावं बहुधा परिचाययति। तथाहि प्रथमेऽङ्के "यद्यपि सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयस्तथापि तत्त्वत एवैनामुपलप्स्ये" इति यदुक्तम्, यच्च द्वितीयेऽङ्के "नवामिन्दुकलां लोकः केन भावेन पश्यति, न च परिहार्ये वस्तुनि

पौरवाणां मनः प्रवर्तते" इत्यवादि, तेन तदीयेन वक्तव्येन तस्य स्वााभाविकं स्थैर्यमेव परिचीयते। किञ्च तृतीयेऽङ्के "साधारणोऽयं प्रणय" इति यदुच्यते, तत्रापि ध्यानं देयं भवति। उभयतोऽपि स्वभावादेव यः प्रवर्तितः, स एव साधारणः प्रणय इत्युच्यते। विक्रमोर्वशीये कविस्तामिमां साधारणतां वैतालिकमुखेन तुल्योद्योगतया समर्थयते। तथा हि–

आ लोकान्तात् प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।
तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः।।२.१।।

कयोश्चिद् द्वयोर्मध्ये परस्परं यो हि तुल्योद्योगः, स एव नायकनायिकयोर्मध्ये प्रणयप्रसंगे साधारणः प्रगय इत्युच्यते। उभयतोऽपि साधारणे सति प्रणये न क्वचिदेकत्र दोषो दीयते। अत्रोभयत्रापि स्वाभाविकतैव प्रवर्तते। अत एवायं साधारणः प्रणयो गान्धर्वविवाहे प्रयोजको भवति। साधारण्येन तुल्योद्योगपरत्वेन च तत्र प्रणयात्मके सम्बन्धे काचिद् गेयता समुत्पद्यते। प्रणयिनोस्तुल्योद्योगपरत्वेन प्रणयस्य परस्परमाधाराधेयभावसम्बन्धेन च प्रणयगतसाधारणत्वे "आ समन्ताद् धारणं यत्रे"ति विशेषव्युत्पत्तिरपि संघटत एव। तदेतस्मिन् साधारणे प्रणये दुष्यन्तस्य कर्तव्याकर्तव्यविवेकपरा सुस्थिरता स्वाभाविकता वा नैव परिहीयते। वस्तुतः 'साधारणोऽयं प्रणय' इति यदुच्यते तत्र साधारणशब्दप्रयोगेण प्रणयस्य धार्मिकता व्यज्यते।

पूर्वोपात्तश्छायाव्यवहारोऽपि केवलं कामातुरस्य कामान्धस्य वा जनस्य न युज्यते। सुस्थिरे सति स्वभावे जनश्छायाव्यवहारी भवितुमर्हति। छायाव्यवहारे कर्तव्याकर्तव्यज्ञानपुरःसरं यादृशं कर्मविज्ञानमपेक्षते, तद्वैवश्यपरिगतेनातुरेण जनेन न वोढुं शक्यते।

मृगयायै प्रस्थितो दुष्यन्तः शकुन्तलायाः प्रणयपाशे परिपतति। शकुन्तलायाः कामभाव एव मृगो भूत्वा दुष्यन्तं धर्मारण्ये प्रावेशयदिति कैश्चिदुच्यते। शकुन्तलाया मातृपक्षीयो धर्मः क्रमेण व्यवस्थानुगुणो भूत्वा शकुन्तलायां संक्रामति। मेनका साक्षादप्सरा दिव्याङ्गना कामचारिणी वर्तते, शकुन्तला तावदप्सरसः पुत्री भूत्वापि विश्वामित्रवीर्यसम्भवा तपःपरा कुलाङ्गना भवति। मेनका विश्वामित्रतपोध्वंसाय बलादिव प्रयोजिता, शकुन्तला सौभाग्येन कुलपतेरनुशासनेन च दुष्यन्तस्य गार्हस्थ्यं सफलयितुं प्रवर्तते। मेनका असूयया विश्वामित्रं प्रति प्रहिता, शकुन्तला पुनरनसूयां स्वसखीं करोति। मेनका आश्रमव्यवस्थां न जानाति, शकुन्तला आश्रमव्यवस्थां सम्यक् परिचिनोति। तथापि मातुः स्त्रीत्वसुलभाः केचन विशेषाः शतशः संस्कारिताः सन्तोऽपि सुतायां सहजतया संक्रामन्ति। अलौकिकसौन्दर्यवशादाकर्षणातिशयो नाम विशेषो मातृपक्षीयः शकुन्तलायामपि वर्तत एव।

शकुन्तलायाः पितृपक्षीयो धर्मस्तावदिह दुष्यन्ते द्विधात्वेन प्रभावमाविष्करोति। जनयितुः पितुर्विश्वामित्रस्य गुणधर्माः प्रतिक्रियात्मकेन विधिना दुष्यन्ते परिवर्तन्ते। पालयितुः पितुः कुलपतेः कण्वस्य च व्यवस्थापनपरा गुणधर्मास्तत्र दुष्यन्ते छायया परिणमन्ते। कण्वपक्षे वानप्रस्थाश्रमो गृहस्थाश्रमं समुपकरोतीति पूर्वमेवोक्तम्। विश्वामित्रपक्षे परिस्थितयः परिवर्तन्ते। विश्वामित्र इन्द्रसखा नासीत्। दुष्यन्त इन्द्रसखा वर्तते। इन्द्रो विश्वामित्रे ईर्ष्यति दुष्यन्ते च स्निह्यति। विश्वामित्रो राजधर्ममतिक्रम्य महर्षिर्ब्रह्मर्षिश्च भवितुमिच्छति। दुष्यन्तो राजधर्ममेव समुन्नेतुं यतते। विश्वामित्रो वर्णव्यवस्थामाश्रमव्यवस्थां चोल्लंघ्य तिष्ठति। दुष्यन्तो वर्णव्यवस्थामाश्रमव्यवस्थां च परिपालयति। तत्र विश्वामित्रो निजाश्रमे स्थितः स्वयमागतां मेनकामुपभुङ्क्ते। अत्र दुष्यन्तः स्वयमुपगत्य कण्वाश्रमे शकुन्तलामनुरुध्य स्वात्मानमुपकरोति। तत्र विश्वामित्रस्तपसि स्थितः। अत्र दुष्यन्तः मृगयाविनोदेनोपगतः। तत्र मेनका

विश्वामित्रं प्रति च्छायया व्यवहरति। अत्र दुष्यन्तः शकुन्तलां प्रति च्छायया व्यवहरति। तथापि द्वयोरतयोर्मध्ये क्वचित्साम्यमपि वर्तते। विश्वामित्रः दुष्यन्तश्चेति द्वावपि चन्द्रवंशीयौ क्षत्रियौ स्तः। विश्वामित्रो यथा सतनयां मेनकां परित्यजति, तथैव दुष्यन्तोऽपि सगर्भां शकुन्तलां प्रति व्यवहरिष्यति।

इत्येवं पर्यवस्थिते धर्मव्यतिकरे युगानुरूपं नूतनमेव यद्धर्म–स्वरूपमवलोक्यते, तदनुसारेण दुष्यन्तस्य प्रणयपरः सर्वोऽपि व्यवहारो धर्मानुप्राणित एवेति न तत्र कामान्धता वा लम्पटता वा कथमपि शंकनीया। दुष्यन्तस्तत्र शकुन्तलामधिकृत्य समयानुरूपं धर्मवाक्यं ब्रूते–

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।।

विवाहोऽष्टधा ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्यगान्धर्वासुरराक्षसपैशाचाख्यः। तत्र पञ्च प्रारम्भिका ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्यगान्धर्वाख्या धर्मपराः शास्त्रेषु श्रूयन्ते। तेन गान्धर्वे नाधर्मः शङ्कनीयः। यत्र कन्यावरयोरन्योऽन्यानुरागात् त्वं मे भार्या त्वं मे पतिरिति निश्चयः स गान्धर्वः। गान्धर्वविवाहेन सह राक्षसविवाहोऽपि क्षत्रियाणां कृते मनुः धर्म्य एवाह–

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ।।

गान्धर्वविवाहो मैथुनपरः कथ्यते, राक्षसविवाहश्च बलादपहरणपरः प्रोक्तः। एतयोर्द्वयोर्विवाहयोर्मध्ये बहुधा मिश्रीभावो विलोक्यते। यतो हि गान्धर्वे कन्याया अनुकूलतायां सत्यामपि ज्ञातिजनमनापृच्छ्यैव यत् कन्यात्वहरणं विधीयते, तद्वस्तुतः प्रकारान्तरेण सामाजिको बलप्रयोग एवेति गान्धर्वविवाहो राक्षसविवाहं प्रायशः स्पृशत्येव।

अथ चतुर्थोऽङ्कः

कण्वाश्रमे गान्धर्वविवाहेन शकुन्तलामुपभुज्य दुष्यन्तो हस्तिनापुरं गतवान्। शकुन्तलामपि सहैव किमर्थं न नीतवान्? दिनत्रयाभ्यन्तरे यदि कण्वस्यागमनं संभावितमासीत्, तर्हि दिनत्रयं यावदेष तत्रैव धर्मारण्ये किमर्थं नास्थात्? दिनत्रयाभ्यन्तरे तदागमनं सुनिश्चितं नासीदिति चेदुच्यते, किमर्थं षष्ठेऽङ्के तेनेदमुच्यते–

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय याति न यावदन्तम्।
तावत् प्रिये मदवरोधनिदेशवर्ती
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति।।

तदवरोधनिदेशवर्तिभिरपि यदि कुलपतेरनुपस्थितावेव शकुन्तला नेतव्या भवति, स्वेन सह नेतुं किमिति स लज्जते वा बिभेति वा। अथ कुलपतेरनुज्ञा यदि शृंगारभोगे नापेक्षिता, स्वेन सहानयने किमर्थमपेक्ष्यते। स्वेन सहैव यदि दुष्यन्तः शकुन्तलामनेष्यत्, दुर्वाससः शापप्रसंग एव नागमिष्यत्। महाभारतस्य शकुन्तलोपाख्याने तदिदं शापप्रकरणं नास्ति। दुष्यन्तस्य चारित्रिकं दोषमपाकर्तुं कालिदासेन शापस्य प्रसङ्गोऽयमाविष्कृतः। महाभारते दुष्यन्तः सहवासेनोपभुक्तां शकुन्तलां स्मरन्नपि प्राप्तकाले न परिचिनोति। तेन तस्य चारित्रिको दोषः परिलक्ष्यते। समायोजितेन शापवृन्तान्तेन स दोषमुक्तः क्रियते। इत्येवं समीक्षकाः कथयन्ति।

किन्तु तथात्वेन मूलकथापरिवर्तननापि दुष्यन्तः कियान् दोषमुक्तो भवतीति प्रश्नस्तावदिहापि प्रवर्तत एव। गान्धर्वेण परिणीतां तापसकन्यां

तपोवने निभृतं परित्यज्य राज्ञो राजधानीपरावर्तनं कियदौचित्यमर्हति। अहं त्विदानीमेकाकी गच्छामि, ममाज्ञया कश्चिदागत्य त्वां ममान्तिकं प्रापयिष्यतीति कथनं कियदुचितं प्रतिभाति। गान्धर्वे सम्पन्ने सत्यपि प्रणयवृत्तान्तस्य संगोपनं किं सूचयति। न हि तत्कालमेव दुर्वासाः शपति। शापात्पूर्वं धर्मारण्येऽपि राजभवने चापि स्वजनेषु प्रणयवृत्तान्तः किमर्थं न प्रकटीकृतः।

शापप्रदाने बहुविधेन कारणेन भवितव्यम्। न केवलं शकुन्तलैव तत्र दोषमर्हति। शापविधौ दुष्यन्तोऽपि नूनमेव कारणतामुपयाति। तेन तदीयं चारित्रिकं दोषमपाकर्तुं शापप्रसंगोऽवतारित इति यदुच्यते तद्वयं न विश्वसिमः। भवभूतिरुत्तररामचरिते सीताविषयकलोकापवादमधिकृत्य प्रवर्तमाने नाट्यप्रयोगे नटं प्रति सूत्रधारमुखेन कथयति–

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।।

यदि कालिदासः सत्यमेव दुष्यन्तं निर्दोषं घोषयितुमिच्छति, तर्हि शकुन्तलाविस्मृतिविषयकं शापवृत्तान्तं केनापि मार्गेण तथा शीघ्रातिशीघ्रं योजयितुं युक्तमासीद्, येन तस्य कृते प्रणयवृत्तान्तगोपनस्यावसर एव नोदीयात्। गान्धर्वानन्तरं यावत्कालं दुष्यन्तः कण्वाश्रमे तिष्ठति, तावत्कालाभ्यन्तरमपि कयापि रीत्या शापप्रसंगोऽवतारयितुं शक्य एवासीत्। सखीद्वयं परिहाय यथा कण्वाश्रमस्यान्ये तपस्विनः शापप्रसंगादनभिज्ञास्तिष्ठन्ति, तथैव दुष्यन्तोऽपि शापवृत्तमजानन्नेव शापप्रभावात् शकुन्तलां विस्मृत्य कण्वाश्रमाद्राजधानीं परावर्तेत। तथा सति "दुष्यन्तेन शकुन्तला स्वेन सहैव कथं नानीयत" इति दोषोऽपि दुष्यन्ते नापतति। तथात्वे च "गान्धर्वेण कण्वदुहितरमुपभुज्य कण्वागमनात् प्रागेव पलायित" इति दोषारोपणमपि न संभवति।

तथात्वेन मूलकथापरिवर्तनं न कृतमिति कारणादेतदेव सिध्यति यत्कविः दुष्यन्ते दोषमवलोक्य तं दोषमपाकर्तुं न यतते, अपितु काव्यतन्त्रपरां निजां

स्वतन्त्रां प्रतिभामवलम्ब्य नवनवतया शाकुन्तलं धर्मविज्ञानमेव प्रकटयितुं प्रयतते। तेन दुष्यन्तो निर्दोषः स्वल्पदोषो वा यदि भवति, तर्हि तदेतदानुषङ्गिकं फलमुपलब्धं भवति।

दुष्यन्तः साक्षात्कृतधर्मा राजर्षिरस्ति। तेन तत्र दोषान्वेषणं न युज्यते। अथ तत्रापि दोषदर्शनं क्रियते चेत् तस्य शकुन्तलाविषयकः प्रणयप्रसंग एव दोषावहो भवति। स चैष दोषावहः प्रणयप्रसङ्गः कथं परिवर्तयितुं शक्यते। सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतं नवमालिकामुज्झित्वा शकुन्तलायाः मुखकमलमभिवर्तमानं मधुकरमभिलक्ष्य—

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु।।

इति यदसौ सावष्टम्भं प्राह, तदेव तद्वदेव स्वयमपि मधुकरायमाणस्य प्रणयोत्सुकस्य तस्य कृतेऽपि वक्तुं शक्यत एव। विनयानुशासनं भ्रमरे चेदुच्यते, स्वयं राजनि तदनुशासनं किमर्थं न प्रवर्तते। एवमेव षष्ठेऽङ्के चित्रार्पितं तदेव दृश्यमवलोक्य तत्रापि तमेव धृष्टं मधुकरं वारयितुं विरहातिकातरो दुष्यन्तो यदाभिजातेन वचसा—

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु त्वां विना पिबति।।

इत्याह, तदेतदपि तद्विषयेऽपि कुतो न वक्तुं युज्यते। मधुकरस्य धृष्टता दुष्यन्तमपि नूनं स्पृशत्येव। यथा स्वपत्नीं मधुकरीं समुपेक्ष्य मधुकरः शकुन्तलाया वदनमभिवर्तते, तथैव दुष्यन्तोऽपि स्वकीयां प्रथमां पत्नीं वसुमतीं समुपेक्ष्य शकुन्तलां कामयते। यथा मधुकरी मधुकरं प्रतीक्षमाणा, तथैव पतिव्रता वसुमती अपि दुष्यन्तं प्रतीक्षमाणा स्यादेव। धर्मपत्नीं तामनामन्त्र्य

विधीयमानो गान्धर्वविवाहो भूयसे दोषाय कल्पते।

हस्तिनापुरमुपेत्य निजावरोधगतः स इमां शकुन्तलागतां घटनां यावदेव निजावरोधपक्षतोऽपि संघटयितुं प्रक्रमते, तावदेव दुर्वाससः शापप्रभावात्तस्य शकुन्तलाविषयिका सम्पूर्णा स्मृतिरेव नष्टा भवति। अत्र धर्मारण्ये चतुर्थाङ्कस्य मिश्रविष्कम्भके अनुसूया सत्यमेव आशङ्कते–

"यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तला अनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृत्तं मे हृदयम्, तथाप्येता– वच्चिन्तनीयम्। अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिः विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्य अन्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति।"

अत्र प्रियंवदाया आशङ्का भिन्ना–

"तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा
न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति।"

त इमे द्वे आशङ्के। सख्यौ सशङ्किते स्तः। साशङ्के ते उभे शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवतामर्चयितुं यावदेव कर्मारभेते, तावदेव तामतिथि– परिभाविनीं वराकीं शकुन्तलां महर्षिः शपति–

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।

धर्मारण्यं परित्यज्य राजधानीं गतस्य दुष्यन्तस्य तृतीये दिने शापवृत्तान्तः संजात इति प्रतीयते। दिनत्रयाभ्यन्तरे नेता जनः कश्चिदाग– मिष्यतीति प्रियो मे प्रोक्तवान्, न च पुनरद्य तृतीयेऽपि दिने कश्चिदागच्छतीति शकुन्तला महतीं चिन्तामाततान। तावदेव दुर्वासा द्वारदेशमस्पृशत्।

शकुन्तला पूर्वमागतस्यैकस्यातिथेः कारणादिदानीमागतस्यापरस्यातिथेः खल्वपराद्धा। दुष्यन्तो दुर्वासा चेति द्वावप्येतौ कण्वाश्रमस्यातिथी भवतः। एकस्य कृते शकुन्तला स्वकीयं सम्पूर्णमपि हृदयं समर्पयति, अपरस्य कृते सा शून्यहृदया भवति। प्रथमोऽतिथिः सर्वस्वं हृतवान्, द्वितीयाय तावदतिथये किं देयं संभवति। किन्त्वत्र किमप्येकं द्वयोर्मध्ये सामञ्जस्यमपि विलोक्यते। "दिनत्रयेण मदवरोधनिदेशवर्ती कश्चिदेष्यती" ति यां संविदं कृत्वा दुष्यन्तो गतवान्, तामिमां दुष्यन्तकृतां संविदं संस्पृशन्निव दिनत्रयाभ्यन्तर एव दुर्वासाः समागतवान्। अत्र महाकवेः कालिदासस्य विलक्षणमेव काव्यतन्त्रं प्रवर्तते।

दुष्यन्तावरोधनिदेशवर्तित्वं कदाचिद् दुर्वाससि व्यञ्जयितुं कामयते कालिदास इति केचन धीमन्तः कथयन्ति। दुष्यन्तावरोधनिदेशवर्तित्वमित्यत्र यदवरोधपदं तत्र श्लेषालङ्कारेण सर्वमपि तथाभूतं रहस्यं स्वयमेव स्फुटं भवति। अन्तःपुरं विरोधश्चेत्यर्थद्वयेनैतदवरोधपदं स्वस्मिन् श्लिष्यति। तेन श्लेषेण काचिदभिनवा व्यञ्जना काव्ये प्रवर्तते। पूर्वोक्तेऽर्थद्वये कालिदासः कमपि सम्बन्धं साधयति। राज्ञोऽन्तःपुरस्य विरोधो दुर्वाससं प्रेरयति। यद्यपि दुष्यन्तो निजान्तःपुरे शकुन्तलाप्रणयं न प्रोवाच, तथापि तस्य तदाचरणं तदन्तःपुरसम्बन्धिनं विरोधं जनयति।

दुर्वासास्त्रिपुरादेव्या महानुपासक इति जानन्त्यभिज्ञाः। महादेव्या वसुमत्याः प्रणयकोप एव तान्त्रिकेण विधिना दुर्वाससः शापप्रदाने प्रतिफलितमिति काव्यतन्त्रमर्मज्ञाः कथयन्ति। यद्यपि शकुन्तलाया विषये दुष्यन्तो निजावरोधजने किमपि नाख्याति, तथापि पुंधर्मः स्त्रीधर्मप्रयोजको भवति। धर्मविज्ञानं सूक्ष्मताक्रमेण प्रगुणायते।

चक्रवर्तिपुत्रप्राप्तेरुपायभूतः शकुन्तलादुष्यन्तयोः प्रणयस्तावदत्र चतुर्भिः पक्षैः परिपुष्यते। शकुन्तलाजन्मदात्रोर्मातापित्रोर्मेनकाविश्वामित्रयोश्चिरन्तनः प्रणयात्मकः पक्षस्तत्र प्रवर्तमाने शकुन्तलादुष्यन्तयोः शृंगारभोगे

कारणतामुपयातीति पूर्वमपि संकेतितम्। शकुन्तलायाः पालयितुः पितुः कुलपतेः कण्वस्य पक्षतो द्वयोरेतयोर्गान्धर्वविवाहो राक्षसीमनार्यां पद्धतिमुत्सृज्य सर्वथैव मानवीयामार्योचितां दैवीं ब्राह्मीं वा पद्धतिमनुसृत्य यथा प्रवर्तेत, तथा पूर्वमपि शकुन्तलाविषयकप्रतिकूलदैवोपशमनात्मककुलपतिसोमतीर्थयात्रया व्यवस्थानुगुणं प्रकटितम्, शकुन्तलापतिगृहप्रस्थापनादिभिश्चाग्रे प्रकटयिष्यते। दुष्यन्तस्य मातृणां पक्षतः पुत्रपिण्डपालनव्रतोपवासेन चक्रवर्तिपुत्रप्राप्तेरुपायभूतं शकुन्तलाविषयकप्रणयं प्रति दुष्यन्तो यथा प्रेरितस्तदपि पूर्वं प्रतिपादितमेव। दुष्यन्तस्य पूर्वपत्नीनां वसुमतीप्रमुखाणां पक्षतश्च. प्रतिषेधात्मकं यदपूर्वं नाटकीयं व्यवस्थापनमत्र शकुन्तलादुष्यन्तयोः प्रणयप्रसंगेऽवतारितम्, तदिदानीं दुर्वाससः शापप्रकरणेन पुरस्तादुपस्थाप्यते।

दुष्यन्तः शकुन्तलां स्वेन सहैव तपोवनाद्राजधानीं यन्नानीतवान्, तत्र तावदेतदेव कारणं प्रतीयते यदसौ निजान्तःपुरस्यानुज्ञां विना तथा कर्तुमेव नार्हति। अथासौ पूर्वं विश्वसिति स्म यद् दिनत्रयाभ्यन्तरेण निजावरोधजनं प्रसाद्य शकुन्तलां निजावरोधाधिकारिणीं विधास्यतीति। किन्तु तस्येदं मनोगतं तथात्वेन कार्यतया न परिणमते। लोकरीतिस्तदनुकूला नास्ति। सपत्नीजनेषु संवादं समाधातुं न लौकिकाः प्रवर्तन्ते। एवंविधेषु स्थलेषु लौकिको व्यवहार–स्तावदलौकिकेन विधिना नियम्यते। तस्मादिदं शापप्रकरणं दिव्यमिति कथ्यते।

दुष्यन्त इन्द्रसखा विद्यते। तेन हि दिव्येऽपि विधौ तस्य गतिरस्ति। अत एव मिथः प्रस्थाने यदसौ शकुन्तलां प्राह "दिनत्रयाभ्यन्तरे मदवरोधनिदेशवर्ती नेता जनस्तव समीपमुपैष्यती" ति, तदनुसारमेव तृतीये दिने ऋषिर्दुर्वासा "अयमहं भो" रिति शकुन्तलामभ्युपैति। दुष्यन्तावरोधनिदेशवर्तित्वं तान्त्रिकेण विधिना श्लेषालङ्कारस्वीकारेण च दुर्वाससः पक्षेऽपि संघटत एवेति पूर्वमपि संकेतितम्। तदिदं तन्त्रं दुष्यन्तस्यान्तःपुरादुत्पद्य शकुन्तलामपि तदन्तःपुरवर्तिनीं कर्तुं प्रतिषेधमुखेन धर्मानुरोधादेव निगूढं प्रवर्तते।

चतुर्थाङ्के ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः। स हि वेलोपलक्षणार्थ-मादिष्टस्तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन कियदवशिष्टं रजन्या इति तावदवलोकयति। हन्त, प्रभातम्। तथा हि-

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु।।

एष लोको दशान्तरेषु नियम्यते। नियमो हि धर्माय भवति। पद्यमिदं सम्पूर्णस्याप्यभिज्ञानशाकुन्तलस्य धर्मविज्ञानं कणेहत्य प्रकटयति। अभिज्ञान-शाकुन्तले लोकनियमनं नाम धर्मविज्ञानं पद्येनानेन सुतरां सिध्यति। बहुविधप्रयोजने सत्यपि कस्यचिदपि काव्यस्य परमं प्रयोजनं लोकनियमनमेव भवति। लोकनियमनं दशापरिवर्तनमधिकृत्य प्रवर्तते। दशा सुखदुःखस्वरूपा भवति। उत्कर्षापकर्षौ व्यसनाभ्युदयौ चेति द्वयी कोटिर्भवति दशायाः। इह लोके किमपि हीयते किमपि चोपचीयते। किन्तु तदुभयमपि लोकं नियमयितुं भवति। सुखदुःखात्मकेन दशान्तरदर्शनेन लोकनियमनं प्रतिपादयितुं कविरत्र सार्वभौमिकं निदर्शनमुपस्थापयति। धर्मविज्ञानस्य प्राकृतिकं स्वरूपमाविष्करोति। धर्मस्य तुलाकोटिद्वये जागतिकं समस्तमपि द्वन्द्वजातं संस्थाप्य धार्मिको जनस्तत्रैव निर्द्वन्द्वं नाम निरतिशयानन्दकरं वस्तु विलोकयति।

"त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्" इति यदुच्यते, तदधिकृत्य प्रस्तुतस्य पद्यस्य मूल्याङ्कनं कर्तुं युज्यते। धर्मार्थकामस्वरूपे त्रिवर्गे कामं पूर्वरूपं कृत्वा धर्मं चोत्तररूपं कृत्वा तयोर्द्वयोरन्तर्गतत्वेनार्थस्य सम्यगाधानं विधीयते। तदनुसारेण प्रकृते पद्ये 'यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना' मिति प्रथमचरणे चन्द्रस्थितिवर्णनेन कामाख्यस्य पुरुषार्थस्य पूर्वरूपता प्रदर्श्यते। 'आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोर्क' इति द्वितीयचरणे सूर्यस्थितिनिदर्शनेन धर्माख्यस्य पुरुषार्थस्य चोत्तररूपता

प्रस्तूयते। पद्यस्योत्तरार्धे पूर्वोक्तयोश्चन्द्रसूर्ययोर्व्यसनोदयाभ्यां स्वतः संजायमानं यल्लोकनियमनं तद्रूपमर्थाख्यस्य पुरुषार्थस्य तत्रैव गर्भीकरणं निगद्यते। तदेवं प्रकारेण प्रस्तुते पद्ये नाट्यानुरूपत्रिवर्गसाधनप्रक्रिया सम्यगुपस्थापिता।

अभिज्ञानशाकुन्तलस्य नाटकस्य हृद्देशे वर्तमानं पद्यमिदं वेलोपलक्षणपरं वर्तते। कण्वशिष्यः समुपस्थितां वेलां साक्षात्कृत्य पद्यमिदं ब्रूते। वेलोपलक्षणार्थकं चेदं पद्यं कालिदासीयां काव्यवेलामपि लक्षयति। अभिज्ञानशाकुन्तलस्य चतुर्थाङ्कस्यारम्भे या काव्यवेला प्रवर्तते, सापि पद्येनानेन सुस्पष्टं परिचीयते। त्रिवर्गसाधनतया विलिख्यमानं नाटकमिदं चतुर्थाङ्कस्यारम्भे त्रिवर्गसाधनपरां यां स्थितिं विन्दति, नाटकीया वस्तुधारा तत्र सर्वथैव संवदति। तृतीयाङ्कं यावद् यथा कामभावस्याधिक्यं नाटके प्रदर्शितम्, तदनुकूलमेव कामाभिमानिनश्चन्द्रस्यास्तमयनं वेलोपलक्षणार्थके पद्ये प्रस्तुतम्। चतुर्थाङ्कादग्रे धर्मस्य यः समारम्भः प्रदर्शयिष्यते, तदनुकूलमेव धर्माभिमानिनः सूर्यस्योदयनं पद्येऽस्मिन् लोकनियमनाख्येन प्रतिपादनेन सदर्थसाधनतया प्रकाशितम्।

अत्र लोकनियमने हेतुभूतं दशान्तरदर्शनं चन्द्रसूर्ययोर्व्यसनोदयाभ्यां प्रस्तुतम्। तत्र चन्द्रास्तमयनं सूर्योदयनं चेति क्रमो विलोक्यते। यद्यपि क्रमविपर्ययेणापि दशापरिवर्तनं सूचयितुं शक्यते, तथापि विपर्यस्तः स क्रमः कवये न रोचते। विपर्यस्तक्रमानुसारेण सूर्यास्तकाले चन्द्रोदयवर्णनं पाश्चात्यां पद्धतिं परिपुष्णाति। तेन तत्र काम एव प्राधान्यमर्हति। न धर्मः। लोकनियमने पुनः धर्मप्रधाना प्राच्या पद्धतिः कवये प्ररोचते। कामानुविद्धं पाश्चात्यं यदर्थसाधनं तत्पुरुषार्थचतुष्टयनियमविरुद्धं भवति।

विपर्यस्ते क्रमे शाकुन्तलीयो घटनाक्रमः क्वचिदपि न संवदति। इह तु कामभावोपशमनेन धर्मानुविद्धं सदर्थसाधनमेव लक्ष्यभूतं वर्तते। चन्द्रे छायात्मकता प्रधाना भवति, सूर्ये च प्रकाशकता प्रमुखायते। न पुश्चन्द्र इव सूर्योऽस्तकाले विच्छायतामर्हति। तदुक्तम्—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।।

शाकुन्तलीयो धर्मः पूर्वार्धे कामानुबन्धपरो भूत्वा परार्धे यदर्थानुबन्धपरो भवति, तदेव त्रिवर्गसाधनक्रमे भारतीयं वर्त्म भवितुमर्हति। कालिदासस्यावलोनक्रमे वचनक्रमे वा परिवर्तनं न संभवति। 'यात्येकतोऽस्तशिखर' मित्यादिपद्ये यथा शाकुन्तलीयो घटनाक्रमः समग्रतया संघटते तथैव भारतीयसंस्कृतिसमर्चाक्रमोऽपि सर्वथैव संगच्छते। एवंविधा श्लोका एव कालिदासं कनिष्ठिकाधिष्ठितं कुर्वन्ति। एवंविधेषु श्लोकेषु महाकवेः विश्वतोमुखी भारतीया प्रवृत्तिः साक्षात्कर्तुं युज्यते। 'दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ कविरित्यभिधाऽभव' दिति यदुच्यते, तदत्र कालिदासस्य काव्ये सर्वोच्चतया परिचेतुं शक्यते।

प्रस्तुते पद्ये कवेः प्रत्यग्रा प्रतिभा परमोत्कर्षं विन्दति। एवं प्रतिभाति यदिदं पद्यं सम्पूर्णस्याप्यभिज्ञानशाकुन्तलस्य बीजभूतं वर्तते। इदं पद्यमेव मन्ये प्रथमं कवेर्मनीषायामुब्दुद्धम्, पश्चात् पद्यस्यैतस्य पुरश्चरणमधिकृत्य नाटकं चापि विनिबद्धम्। कविर्जानाति यदस्मिन् पद्ये यादृशी समग्रता वर्तते, तादृशी सहृदयेषु ग्राहकता विरला भवति। तादृशीं समुदारां सहृदयतां सम्पादयितुमेव कविः काव्यपरो भवति। पद्येऽस्मिन् कविः क्रियमाणस्य काव्यस्य हृदयमाविष्करोति। सहृदयधुरीणाः पद्यस्यैतस्य पार्यन्तिकं स्वरूपमेव सम्पूर्णेऽपि काव्ये साक्षात्कुर्वन्ति। उत्प्रेक्षाधुरीणाश्चात्र कवेः सरलतायां गाम्भीर्यमुत्प्रेक्षन्ते, गाम्भीर्ये च सरलतामुत्प्रेक्षन्ते। नियमपरा धार्मिकाश्चाप्यत्र भाग्ये पौरुषं पौरुषे च भाग्यं सम्भावयन्ति। पद्यमिदं नाटके धर्मविज्ञानस्य पताकेव परिस्फुरति।

एतस्य पद्यस्य चतुर्थचरणे "लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु" इत्यत्र "इवात्मदशान्तरेषु" इति पाठान्तरं पुस्तकेषु विलोक्यते। तत्र केषाञ्चन समीक्षकाणां विचारः प्रसरति। तदनुसारेण तत्रात्मशब्दपरिग्रहे सति वाक्यार्थे

तावदाध्यात्मिकताया दार्शनिकतायाश्च समायोगो भवति। तदपरे व्यङ्ग्यप्रियाः न सहन्ते। ते व्यञ्जनाव्यापारेण तत्र तामाध्यात्मिकतां दार्शनिकतां वा सुतरां साधयन्ति।

एतस्मिन् पद्ये यदुभयी जागतिकी प्रवृतिरुपपादिता, तदेव सविवेकं व्याख्यातुं कविरग्रिमं पद्यद्वयं पूर्वतनस्य पद्यस्य व्याख्यानभूतं विलिखति। पूर्वोक्तस्य वक्तव्यस्य व्याख्यानभूतत्वादेव केचिदग्रिमं पद्यद्वयं प्रक्षिप्ततया नाटकाद् बहिष्कुर्वन्ति। तदस्मभ्यं न रोचते। यतो हि कालिदासस्य वैज्ञानिके काव्यविधौ तस्य द्वयस्यापि श्लोकस्य प्रासंगिकता विद्यते। न च तत्र कालिदासीय–कवित्वानुरूपो गुणधर्मः कणशोऽपि हीयते। अपितु पूर्वोक्तं जागतिकं वक्तव्यं तत्रोभयेऽपि पद्ये प्राणिति। ते पद्ये स्तः–

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः।
वेदिप्रान्तात्खुरविलिखितादुत्थितश्चैष सद्यः
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणःस्वाङ्गमायच्छमानः।।

तथा च–

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षपिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः।
सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै–
रत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा।।

इदं पद्यद्वयमपि पूर्वोक्तं पद्यमिव शिष्यमुखादेवोच्यते। वेलोपलक्षणार्थमादिष्टः शिष्यः कतमां जागतिकीं वेलां साक्षात्करोतीति सर्वैरवलोक्यताम्। दुःखे सुखं सुखे दुःखं चेति यथार्थानुभूतिरत्र वर्तते। जागृतिः स्मृतिश्चेति द्विविधा प्रमितिरत्र वर्तते। इयं हि ब्राह्मी वेला। मन्ये कालिदासोऽस्यामेव वेलायां नाटकं लिलेख।

सूर्यचन्द्रयोरुदयास्तमयनव्याख्यानभूते पूर्वोक्ते पद्यद्वये पारस्परिकं यद्वैलक्षण्यं तदपि तावच्चिन्तनीयम्। कर्कन्धूनामित्यादिके प्रथमे पद्ये सूर्यागमदूतीभूतायामग्रसन्ध्यायां यानि त्रीणि दृश्यानि, तत्र सौन्दर्याधायको जागरणसन्देशः प्रदत्तः। किन्तु पादन्यासमित्यादिके द्वितीये पद्ये चन्द्रविषये तावदत्यारूढिरपभ्रंशनिष्ठा कथ्यते। सूर्यस्योदयास्तविधाने पूर्वोक्तनीतिपद्यसम्मिता समानरूपता, चन्द्रस्योदयास्तविधाने चारूढिभ्रंशप्रयुक्ता भिन्नता। सूर्यो न क्षीयते न चोपचीयते किन्तु चन्द्रस्य कलाः क्षीयन्ते चोपचीयन्ते चेति को न जानाति। कालिदासोऽभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रवर्तमाने प्रसंगे सूर्यमग्रेतनं चन्द्रञ्च पूर्वतनं कृत्वा प्रवर्तते।

सूर्याचन्द्रमसौ लोके धर्मप्रवर्तकौ स्तः। अभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रवर्तमाने प्रसंगे लोकाश्रयस्य नाट्यस्य यादृशः काव्यधर्मः प्रवर्तते, तदनुगुणं पूर्वोक्तं श्लोकत्रयं शिष्यमुखादुपस्थापितम्। शाकुन्तलीया नाट्यप्रकृतिस्तत्र सम्यगाभासते। तथापि तत्र त्रितयेऽपि स्थले शाकुन्तलीयपूर्वापरनाट्यप्रकृतिं प्रति काचित्तटस्थता निरपेक्षता वा प्रतीयते। अतः पूर्वापरनाट्यवस्तुविधानं सर्वथैव सापेक्षतया सरसतया च प्रत्यक्षीकर्तुं चतुर्थमप्येकं पद्यं शिष्यमुखादुच्यते। तद्यथा–

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवास– जनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।।

कथोपकथनप्रधाने नातिपद्यप्रचुरे नाट्यवस्तुनि यदेकस्य पात्रस्य मुखेन निरन्तरालं पद्यचतुष्टयं प्रोच्यते, तदपरे न सहन्ते। ते तत्र पूर्वापरं पद्यद्वयं कालिदासकृतित्वेन प्रकाश्य तदपरं पद्यद्वयं पाठान्तरत्वेन प्रक्षिप्तत्वेन वा सङ्गिरन्ते। किन्तु मादृशाः केचन तदिदं पद्यचतुष्टयमेव कालिदासस्या–भिज्ञानशाकुन्तले सर्वाधिकं रमणीयं मन्यन्ते। तदुक्तं ममैव सगोत्रेण केनचिद्–

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।।

तदेवंभूतेन श्लोकचतुष्टयेन वेलोपलक्षणं सम्पाद्य शिष्यः समुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयितुं निष्क्रान्तः। सम्भवतोऽनसूया शकुन्तलागतया चिन्तया रात्रौ सम्यग् निद्रां न लब्धवती। मन्ये सा वेलोपलक्षणपरं शिष्यमुखादुच्चरितं श्लोकं शृणोति। न केवलं शृणोत्यपितु तदर्थं स्वचिन्तनोत्थे शकुन्तलाविषयके वस्तुनि संघटयत्यपि। अत एवापटीक्षेपेण तत्कालं प्रविश्य स्वगतं कथयति–

"यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितम्, तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्।"

नूनं शिष्योक्तं चतुर्थं श्लोकं प्रतिसन्धाय वाक्यमिदं स्वचिन्ताविषय–कसन्देहसमर्थनतयाऽनसूयामुखान्निःसरति। कण्वशिष्यो हि विषयपराङ्मुखः प्रणयप्रपञ्चविषयकं वस्तुविशेषं किमपि न जानाति। तथाप्यसौ स्थावरां प्रकृतिमवलोक्य कथयति 'इष्टप्रवासजनितानि अबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रं सुदुःसहानि' इति। प्रोषितभर्तृकायाः कष्टानि चेदेवंविधानि, खण्डितायाः किंवा वञ्चितायाः कष्टानि किंस्वरूपाणि भविष्यन्ति। अथ राजा दुष्यन्तस्तावदत्र वंचकस्तपस्विनी शकुन्तला चात्र वंचितेति कथं केनापि विश्वसितुं युज्यते।

इह लोके द्विविधा जना भवन्ति विषयिणो विषयपराङ्मुखाश्चेति। विषयिणो विषयोपभोगविषयेऽधिकतया संवेदनशीला भवन्ति। ते जानन्ति यद्विषयोपभोगे प्रसक्तः समर्थो जनो न ह्येवं विषयोपभोगाद्विरमतीति। तेषां मतेन निजे प्रणयवृत्तान्ते राजर्षिर्दुष्यन्तोऽसत्यवादी किमर्थं भविष्यति। आर्याणां नायकोऽसौ शकुन्तलाविषये किमर्थमनार्यमाचरिष्यति। तथापि यत्सत्यं तेन ह्यसत्यसन्धेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्। विषयपराङ्मुखास्त्वा–श्रमवासिनो वयमपि तथाभूतस्य राज्ञो विषये तदेतदधर्माचरणं स्वप्नेऽपि शोचितुं

न पारयामः। तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितमिति वज्रोपघातकल्पं सत्यमस्ति। कथमन्यथा तादृशानि मन्त्रयित्वा एतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति।

वेलोपलक्षणपरः कण्वशिष्यः कालविधाने परिस्थितिविनिर्माणे वा कारणभूतयोश्चन्द्रसूर्ययोर्नैसर्गिकं निदर्शनमुपस्थाप्य निसर्गोपलब्धां विरहकातरां कुमुदिनीं विचिन्तयति। किन्त्वनसूया सांसारिकेण चेतसा सखीं शकुन्तलां शोचन्ती राजनि दुष्यन्ते दोषं पश्यति।

सूर्याचन्द्रमसौ किं करिष्यतः? राजा कालस्य कारणं कथ्यते। एतादृशे सति राजनि प्रजा किं करिष्यति? एवं प्रकारेण विपरिवर्तिते सति काले प्रतिबुद्धोऽपि जनः किं करिष्यति? इयति विसंवादिते समाजे कस्य सामाजिकस्य हस्तपादाः प्रसरन्ति? धर्मस्तावदत्र सर्वथैव संच्छन्नः। काम इदानीं सकामो भवतु, येन असत्यसन्धे जने सखी पदं कारिता।

'काम इदानीं सकामो भवतु' इत्यनसूयामुखादुच्चारिते वाक्ये यो हि कालिदासीयो व्यङ्ग्यार्थस्तमपि बोधन्तु भवन्तः। धर्मं विना कामः कथमपि सकामो भवितुं नार्हति। कामस्य सार्थकता पुरुषार्थरूपेणैव संभवति, नान्यथा। चत्वारश्च धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः कथ्यन्ते। धर्मस्तत्र प्रथमः पुरुषार्थः। धर्माख्ये प्रथमे पुरुषार्थे व्याहन्यमाने सति कामाख्यस्तृतीयः पुरुषार्थः कथं सेद्धुं शक्नोति? अर्थकाममोक्षाः धर्मानुस्यूता एव पुरुषार्थाः कथ्यन्ते। धर्मे व्याहन्यमाने कामस्य पुरुषार्थतापि नूनं व्याहन्यते। धर्मानुस्यूत एव कामः पुरुषार्थरूपेण सकामो भवति। धर्मविरुद्धः कामः पुरुषार्थराहित्यवशात्कथं सकामो भवितुमर्हति। तदेवं काम इदानीं सकामो भवत्विति वाक्यं विपरीतलक्षणया बोद्धव्यम्।

अथवा दुर्वाससः कोप एवैष वर्तते। दुर्वाससः शापवशादेव स राजर्षिः शकुन्तलां विस्मरति। विस्मृतिश्चरित्रं विकारयति। दुश्चरित्रस्तु स नास्त्येव। शापादुपगते स्मृतिभ्रंशे वराकः किं करिष्यति? तदस्माभिः स्मृतिकारकं

तदीयमङ्गुलीयकं तस्मै प्रेषणीयम्। किन्तु कस्तावदेतदभिज्ञानकं तत्र प्रापयिष्यति? गुप्तरूपेण तदेतत् प्रेषणं नैव संभवति। कुलपतेराज्ञां विना कथं कश्चित्तपस्वी कार्यमिदं विधास्यति? कुलपतये चैतत्सर्वं विज्ञापयितुं न सहे। यतः शापवृत्तान्तेन प्रणयवृत्तान्तोऽपि विज्ञापनीयो भविष्यति। प्रणयवृत्तान्तं च विज्ञाप्य शकुन्तलायाः गर्भधारणं कथं निगूहितुं युज्यते? ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकण्वस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्येवं शकुन्तलायाः सखी अनसूया भृशं चिन्तयति।

अनसूयायाश्चिन्तनक्रमे कविः संसारगतां दोषारोपणपद्धतिमाविष्करोति। यदिदं प्रणयवृत्तं शापवृत्तान्तेन प्रतिफलितम्, तत्र कस्तावदस्ति दोषभागिति विचारयितुं कविः प्रेरयति। अनसूया दुष्यन्तं दूषयन्ती सखीगामिदोषदर्शनेन निरुत्तरा भवति। एवम्भूते परिस्थितिविशेषे क्षणेनैव द्वावपि पक्षौ सदोषौ क्षणेनैव च द्वावपि पक्षौ निर्दोषौ प्रतीयेते। तत्र सामान्यो जनस्तावन्मुह्यति।

किन्तु महान्तो जनाः क्षणेनैव सत्यं साक्षात्कृत्य सर्वमपि समुपस्थितं सन्तुलयितुं समुत्सहन्ते। कुलपतिः कण्वः स्वयमेव क्षणेन सर्वं विदित्वा शकुन्तलामाह "दिष्टया धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता। वत्से, सुशिष्यपरिदत्ता विद्येव अशोचनीयासि संवृत्ता। अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामि" इति। अहो, द्वितीयाङ्के तपोवनोपरोधनिवारण–प्रसङ्गे सेनापतिं प्रति दुष्यन्तेन यदुक्तम्–

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्ता–
स्तेजोऽन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।।

इति, तदत्र चतुर्थाङ्कारम्भे प्रत्यक्षतया प्रमाणितं विलोक्यते। प्रणयवृत्तान्तं शकुन्तलायाः गर्भधारणं च विज्ञाय कुलपतिः कण्वः शकुन्तलां पतिगृहं हस्तिनापुरं प्रेषयितुं निरणैषीत्। कण्वस्यैष निर्णयः प्रतिक्रियात्मकः प्रतीयते। शकुन्तलया सह दुष्यन्तस्य गान्धर्वविवाहः राक्षसविवाहमपि स्पृशँस्तिष्ठतीति तृतीयाङ्कान्ते निःशङ्कं सूचितम्। पूर्णतया राक्षसविवाह एवायमिति कथमपि वक्तुं न शक्यते। तथापि गान्धर्वराक्षसविवाहयोर्मिश्रीभावोऽपि कथमपि वारयितुं न शक्यते। अथात्र गान्धर्वविवाहे राक्षसविवाहस्य यन्मिश्रणं तदेव तातकण्वस्य व्यवहारे प्रतिक्रियामुत्पादयति।

साकल्येनाष्टविधविवाहेषु ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्यरूपः पञ्चविधः विवाहः धर्म्यः प्रोक्तः, असुरराक्षसपैशाचरूपश्च त्रिविधो विवाहोऽधर्म्यः कथितः। विशेषप्रतिपत्त्या यद्राक्षसविवाहोऽपि क्षत्रियाणां कृते धर्म्यः प्रोक्तस्तत्केवलं क्षत्रियाणामेव कृते बोद्धव्यः, न ब्राह्मणानां कृतेऽपि। भगवान् काश्यपश्च शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। स एवात्र पालयितृत्वेन कन्यायाः शकुन्तलायाः पिता भवति। विवाहे वरकन्ययोर्द्वयोरपि पक्षयोर्विचारः प्रवर्तते। दुष्यन्तः क्षत्रियतया यद्राक्षसविवाहमिश्रितेनापि गान्धर्वविवाहेन प्रवर्तते, तत्प्रतिक्रियायां कण्वस्तावदत्र तमेव गान्धर्वविवाहं ब्राह्मविवाहेन संकलयन् सर्वथा वैवाहिकमेव वाक्यमिदं ब्रूते—"दिष्टया धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता" इति। ब्राह्मविवाहस्य लक्षणं मनुस्मृतौ यथा—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः।।

ब्राह्मविवाहस्य लक्षणमिदं शकुन्तलादुष्यन्तयोर्गान्धर्वविवाहे नूनमेवांशतया संघटते। यत आहूत इव दुष्यन्तः कण्वाश्रमे शकुन्तलां पर्यणैषीत्। अथात्र शकुन्तलाया धर्मपिता कण्वो यदि 'यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता' इत्युक्त्या स्वात्मानं यजमानतया प्रख्यापयति, तर्हि तस्यामवस्थायां दुष्यन्तः

ऋत्विक्तया परिणमते। न केवलं ब्राह्मणवर्ग एव ऋत्विक् भवति, अपितु राजन्यवर्गोऽपि कदाचिद् लोकहितसम्पादनेच्छया ऋत्विक्त्वमर्हति। तेन च तत्र गान्धर्वविवाहे दैवविवाहस्यापि सम्मिश्रणं कर्तुमिच्छया कण्वः सुभगां शकुन्तलां कथयति" अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामि" इति। दैवविवाहस्य लक्षणं मनुर्लिखति–

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते।।

अलङ्करणं पुनस्तातकण्वस्य तपःप्रभावादेवमाविर्भवति–

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवता – करतलैरापर्वभागोत्थितै–
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिस्पर्द्धिभिः।।

तदेवं शकुन्तलादुष्यन्तयोर्गान्धर्वविवाह एकतस्तु राक्षसविवाहं स्पृशति, अपरतश्च ब्राह्मविवाहं दैवविवाहं चापि स्पृशति। ब्राह्मदैवविवाहौ सर्वथा धर्म्यौ स्तः। गान्धर्वविवाहः स्वयमपि धर्म्य एवास्ति। राक्षसविवाहोऽपि क्षत्रियेषु धर्म्य एवोच्यते। अथ च "धर्म्येष्वेव विवाहेषु कालपरीक्षणं नाधर्म्येषु" इत्युद्वाहतत्त्वविदो वदन्ति। तदत्र शकुन्तलादुष्यन्तयोर्धर्म्ये विवाहे दुर्वाससः शापः कालपरीक्षणात्मको भूत्वा प्रवर्तते।

किन्तु दुर्वाससः शापं शकुन्तला न जानाति। दुष्यन्तोऽपि न जानाति। कण्वस्तावज्जानाति न वेति बाढं विचारणीयम्। स हि शाश्वते ब्रह्मणि स्थितः श्रूयते। आकाशोऽपि तस्मै वक्ति। अग्निशरणं गतः स यदि शकुन्तलामापन्न–सत्त्वामवगन्तुमर्हति, शापप्रसंगावगमे कथमसमर्थो भविष्यति। तथापि ज्ञानाज्ञाने

धर्मो नियामकतया प्रवर्तते। धर्मः क्वचिद् ज्ञानमप्यज्ञानं करोति, क्वचित्पुनरज्ञानमपि ज्ञानं विदधाति। धार्मिको जनो यदेकत्र जानन्नपि न जानाति, तदेवापरत्र न जानन्नपि बहु विजानाति। महतां ज्ञानं क्वचित् प्रकाशकतया प्रवर्तते, क्वचिच्छाययापि प्रवर्तते।

कण्वः शकुन्तलाया भाग्यं भवितव्यतां वा विजानाति। स तस्या दुर्दैवमनुकूलयितुं सोमतीर्थं गच्छति। तत आगतश्च तीर्थयात्राफलोपकल्पं शकुन्तलाया वृत्तान्तमवगच्छति। तत्र वृत्तान्ते गान्धर्वविवाहो गर्भधारणं शापप्रसङ्गश्चेति त्रितयमपि तदीयं वृत्तदलं निपुणं निभाल्य निरुद्विग्नेन चेतसा सर्वं धर्मेण समन्वयितुं प्रक्रमते। शकुन्तलायाः पूर्वोक्ते त्रितये वृत्तदले दुष्यन्तदुर्वाससोर्द्वयोरपि प्रासङ्गिकता विलोक्यते। तत्र दुष्यन्तमधिकृत्य गान्धर्वविवाहस्य यदितरेतरविवाहसंस्पर्शस्तद्रूपं कण्वस्य धर्माचरणं पूर्वमेव प्रतिपादितम्। इदानीं दुर्वाससः शापप्रदानं वरप्रदानेन संभावयितुं कण्वस्य धर्माचरणं प्रतिपाद्यते।

किं शापो वरदानेन परिणमयितुं युज्यते। शकुन्तलादुष्यन्तयोर्वैवाहिकं कर्म समधिकृत्य यदि कश्चित् शापमुत्सृजति, कश्चिदन्यस्तं शापं वरदानतया परिवर्तयितुं मन्ये नूनमर्हति। धर्मनामकः पुरुषार्थस्तत्र सर्वाधिकं संवदते। धर्मः शापवरयोर्मध्ये यथा वैज्ञानिकीं गतिमाबध्नाति तथा नान्यत्र। न हि कस्यापि किमपि कर्म स्वस्मिन्नेव परिपूर्णं परिसमाप्तं वा भवति। यत्कर्म यादृग्भिरित–रेतरस्वपरकर्मभिर्युज्यते, तादृशी तस्य परिपूर्णता परिसमाप्तिर्वा कथ्यते। शकुन्तलादुष्यन्तयोर्वैवाहिकं कर्म दुर्वाससः शापेन संयुज्य यदि चिन्तामाविर्भावयति, तदेव तत्कर्म कण्वस्य शुभाशिषा संयुज्य किमर्थं निश्चिन्ततां नोत्पादयिष्यति। शापाद्वरो बलवत्तरो भवतीति धर्मशास्त्रिणः कथयन्ति।

दुर्वासाः कण्वश्चेति द्वावपि परमधार्मिकौ स्तः। तथापि प्रस्तुते प्रसंगे तयोर्द्वयोरपि भूमिका परस्परं विरुध्नाति। दुर्वासाः शकुन्तलां न हि

साक्षाद्विजानाति। स तु तान्त्रिकेण विधिना वसुमतीप्रभृतीनां दुष्यन्तस्य पूर्वपत्नीनां पक्षतो विरोधितया प्रवर्तते। किन्तु कण्वः शकुन्तलायाः पालयिता संस्कारयिता च पिता वर्तते। शकुन्तलाया गार्हस्थ्यं विनिर्मातुं तदुपरि महत्त्वपूर्णं दायित्वमस्ति। तस्मादसौ शकुन्तलादुष्यन्तयोः पक्षतः सहयोगितया प्रवर्तते। दुर्वाससः शापप्रदाने मानवीयं भाग्यं प्रतिफलति, किन्तु कण्वस्य वरप्रदाने मानवीयः पुरुषार्थः परिलक्ष्यते। यत्कर्म भाग्यं विनिर्माति, तदेव कर्म पौरुषं प्रत्यपि प्रेरयितुं भवति। भाग्ये पौरुषे च क्रमशः पर्यवस्थितौ दुर्वासःकण्वौ द्वावपि महात्मानौ धर्मविज्ञानवेत्तारौ स्तः।

शकुन्तला दुर्वाससः शापादपरिचिता कण्वादेशेन पतिगृहगमनपरा नितान्तं शोचनीया भवति। शप्तो जनः शापोद्धारक्रमेण स्वाभ्युदयाय चेष्टते। किन्तु शकुन्तला नैवं शापं जानाति, नैव च शापोद्धारं विजानाति। 'अभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत' इति शापोद्धारपरं दुष्यन्तस्याङ्गुलीयकं यद्यपि तत्करे वर्तते, प्रस्थाने सखीभ्यां तथा संकेतयिष्यते चापि, तथापि शापमनुक्त्वा शापोद्धारकरं यत्कथनं तदकथिताभिधानं भवति। शापं च वक्तुं सख्यौ कथमपि न सहेते। 'को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चती' ति सख्यसुलभा स्नेहसंस्कृतिः प्रागेव प्रकाशिता वर्तते।

किन्त्वत्र विषये कण्वस्य या मूकता तटस्थता वा, सा सहृदयानां बुद्धिस्था न भवति। अज्ञानं कण्वे न युज्यत इति प्रोक्तम्। जानन्नपि शापोद्धारं शकुन्तलायै न कथयतीति महती कठोरता। तदेवं कण्वः कठोरो वा भवत्वज्ञानी वा भवत्विति महती विचिकित्सा पाठकवर्गेषु प्रवर्तते। किन्तु कण्वः कठोरो वाज्ञानी वा नास्ति। ज्ञानिनः सन्तोऽपि हितैषिणः शप्तं जनं शापेन न परिचाययन्ति। तेन शप्तोऽहमिति शप्तस्य जनस्य कर्मण्यता हीयते। अथ शापोद्धारकरं दुष्यन्तस्याङ्गुलीयकं शकुन्तलाहस्ते वर्तते। काले प्राप्ते सा स्वकरस्थं तदङ्गुलीयकमभिज्ञानाय स्वयमेव प्रदर्शयिष्यति। तदभिज्ञापनेन

को लाभः? 'शुभाशिषा वरप्रदानेन वा सेयं शकुन्तला गार्हस्थ्ये प्रवर्तनीया' इत्यस्ति कण्वस्य स्वाभाविकी कार्यपद्धतिः। शुभाशिषा वरप्रदानेन च स्वकन्यां शकुन्तलां सर्वदैव संवर्धयितुं प्रसक्तचित्तः कण्वः कोपमुनेर्दुर्वाससः शापं न गणयति। अथवा शापस्य कारणादेव शकुन्तलायाः संस्कारे समधिकेन बलेन प्रवर्तते।

शापो वरश्चेति द्वयमपि धर्मस्योपादानमस्ति। धर्मव्यवस्थायां शापो दण्डविधिमाश्रयते, वरश्च संस्कारविधिना प्रवर्तते। संस्कारविधौ प्रसक्तो जनो दण्डविधिं न चिन्तयति। कर्मणः फलं दण्डतया समापन्नं सदपि संस्कारेण सदर्थाय कल्पते। यदुद्वाहसंस्कारे कालपरीक्षणमिति प्रोक्तम्, तत्तादृशे परीक्षणात्मके कष्टकरे कालान्तरालेऽपि संस्कारस्य प्रक्रियायाः प्रसक्तिरेव समधिकं युज्यते, न शापान्वितिरिति संस्कारवादिनो वदन्ति। संस्कारप्रक्रियायां पर्यवसितं मत्वा शापं कण्वमुनिर्नाधिकं शोचति। अपितु वरप्रदानेन शापं संस्कारविधौ सदर्थाय नियमयति। शापं विदित्वापि संस्कारधिया शकुन्तलां पतिगृहं गमयितुं प्रयुञ्जानो भवति। परिणीता पितुर्गेहे चिरं न शोभते। पतिश्चेत् शापात् पत्नीं न परिचिनोति, परिचयोत्पादने स्वयमेव ताभ्यां प्रयासो विधातव्यः। गान्धर्वे ये न पृष्टास्ते बान्धवास्तत्र तयोर्गान्धर्वं परिचाययितुं कथं प्रभवेयुः। धर्मस्तत्र सहायकतया स्वीकार्य संस्कारेण स्वधर्मः संवर्धनीयः। संस्कारेण शापोऽपि वराय कल्पते।

संस्कारपद्धत्या पवर्तमानं तदिदं शाकुन्तलं धर्मविज्ञानं शापप्रसंगे कण्वस्य मौनावलम्बनेन सरहस्यं भूत्वा सुतरां सामर्थ्यशालि भवति। रहस्यात्मकतया धर्मो यत्र कठोरतामधिगच्छति, तत्र तद्गतायां कठोरतायां सामर्थ्यातिशयोऽपि स्वयमुद्भवति। धार्मिको जनस्तत्र तमेव सामर्थ्यातिशय–मधिगम्य विद्योतते। तेन शकुन्तलामधिकृत्य कण्वे कापि कठोरता न शंकनीया। अपितु शापप्रसंगे शकुन्तलाहितसाधनपरस्तस्य सामर्थ्यातिशयो विभावनीयः।

तस्य तं सामर्थ्यातिशयं वयमत्र शकुन्तलाप्रस्थानप्रसंगे सुस्पष्टं विलोकयामः। शकुन्तलां पतिगृहं गमयितुं प्रयुञ्जानः सः सम्पूर्णमपि शाकुन्तलमितिवृत्तमभिव्याप्य तिष्ठति। तदानीं तस्य सामर्थ्यातिशये सकलापि प्रकृतिः संवदते। तदाज्ञया वनतरवः पतिगृहगमनोत्सुकायै शकुन्तलायै विविधानि मङ्गलोपायनानि प्रयच्छन्ति।

शकुन्तलाप्रस्थानप्रसंगमतिरिच्य सम्पूर्णेऽपि नाटके कण्वः क्वाप्यन्यत्र मञ्चारूढो न भवति। यद्यपि शाकुन्तलः सर्वोऽपि वृत्तान्तः कण्वस्य धर्माचरणे विश्रान्तः परिलक्ष्यते, तथापि शकुन्तलां पतिगृहं गमयितुं स साक्षादाविर्भवति। 'पतिं प्रत्युपेहि' इत्येतावन्मात्रेण निजेन पदक्रमेण स इह समग्रामपि मानवजातिं महामन्त्रेणोपकरोति। 'कर्म शान्तं प्रतापवत्' इति यन्माघेनोक्तम्, तदत्र कण्वस्य धार्मिके कर्मणि साक्षादवलोक्यते। शकुन्तलां पतिगृहं गमयितुं कण्वस्य य आदेशः, स दुर्वाससः शापस्य प्रत्यादेश इवावतीर्णः।

गान्धर्वविवाहे राक्षसविवाहस्य गन्धमाघ्राय दुष्यन्तं प्रति कण्वस्य या धार्मिकी व्यावहारिकी च प्रतिक्रिया, सा ब्राह्मदैवविवाहात्मिका पूर्वमुल्लिखिता। स एव कण्व इदानीं शापप्रसंगमधिकृत्य दुर्वाससं प्रति प्रतिक्रियात्मकं स्वकीयं प्रबलं व्यवहारं वरप्रदानेन पुरस्करोति। पतिगृहगमने सज्जा शकुन्तला यदा कण्वं प्रणमति, तदा कण्वः शुभाशिषं ब्रूते–

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि।।

तत्र गौतमी कथयति–

वरः खल्वेषः, नाशिषः।

नूनं शकुन्तलायै साक्षाद्वर एवायं कण्वमुखाद्विनिःसृतः। दुर्वाससः शापप्रदानं शकुन्तलायाः पूर्वतनं वृत्तमधिकृत्य सम्भवति, कण्वस्य वरप्रदानं

चात्र शकुन्तलाया आगामिनं जीवनवृत्तमुपस्थापयति। तथापि शापवरयोरे-काश्रयत्वेन यदग्रे झञ्झावात इव सुदूरं प्रचलिष्यति, तद्वराकी शकुन्तला नैव जानाति। कण्वस्तु मन्ये विजानाति। अत एवाग्रे मिथः प्रस्थाने यदा शकुन्तला पुनस्तं प्रणमति, तदासौ निजाशिषं निम्नांकितेन वचसा प्रकटयति-

"यदिच्छामि ते तदस्तु"

– इति। ननु किमिच्छति तत्रभवान् कण्व इति पाठकानां स्वाभाविकी जिज्ञासा भवति। अहं मन्ये यदेष कण्वः शकुन्तलाया जीवनं तपोमयं कर्तुमिच्छति। दुर्वाससः शापप्रभावाद् यदग्रे निपतिष्यति, तेन तस्या जीवनं तपोमयं भवेदिति कण्वस्य संस्कारपरा निजेच्छा वर्तते। यत्तदोः सर्वनाम्नोः प्रयोगेणोभयत्रापि नूनं तपोऽभिधानमेव कण्वस्य विवक्षितमस्ति। "यत्तपस्तेऽहमिच्छामि, तत्तपस्तेऽस्तु जीवने" इत्येवं तद्वचोव्याख्यानं सम्भवति। इत्येवं कण्वः शापप्रभावं तपसि नियमयितुमिच्छति। किन्तु शापरहस्योद्घाटनाशङ्कया न शब्दैरेतदभिधातुं युज्यते। पितुरावासं परित्यज्य पतिगृहगमनपरायाः कन्याया मनोरथं कथं कश्चिदपि पिता भंक्तुमर्हति। पतिगृहगतं न जाने कियन्तं कमनीयं मनोरथं निजहृदि पालयन्ती सत्यपि शकुन्तला पितुर्विरहं सोढुमपारयन्ती प्रथममेव पितरमाश्लिष्य एतदुक्तवती-

"कथमिदानीं तातस्य अङ्कात् परिभ्रष्टा मलयपर्वतोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि।"

सख्यौ च यदा शकुन्तलां राजनि प्रत्यभिज्ञानमन्थरे सति तन्नामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शयितुमुपदिशतः, तदा तयोरेतेन दुष्यन्तगत-सन्देहेन शकुन्तला समन्तादपि कम्पते। तत्कथं कण्वः शकुन्तलाया भाविजीवन-मधिकृत्य कष्टकरं स्वाभिप्रायं प्रकटयेदिति स्वयं सचेतसश्चिन्तयन्तु। तपस्यायै पतिगृहं गच्छत्विति का वाचोयुक्तिः। तपस्तप्यतामित्युक्त्वा को नाम पिता पुत्रीं पतिगृहं प्रेषयति। तप एव करणीयं चेदिहाश्रमेऽवस्थानं सर्वथैव श्रेयस्करं

वर्तते। तपः प्रणयिनां पथ्यं प्रोक्तुं न युज्यते। शकुन्तलायास्तपोमयं जीवनं कामयमानोऽपि कण्वस्तथा प्रवक्तुं न प्रभवति। "कदा पुनस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये" इत्युक्तायां शकुन्तलायां स प्रथमं गार्हस्थ्यसौख्यमेव वदति, तदनन्तरं वानप्रस्थाश्रमे पुनरिहाश्रमे तदागमनं शंसति। तथाहि–

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥

गार्हस्थ्ये तपोविधानं नेष्यते। गृहिणीपदोपलब्धये "शुश्रूषस्व गुरून्" इत्यादिः समुदाचारः पूर्वमेवोपदिष्टः। स समुदाचार एव गृहिण्यास्तपो भवति। तदिदानीं किमिव तदतिरिक्तं तपस्तस्यै पतिगृहगमनपरायै कण्वः कांक्षति। कीदृशं तपः मनसि सन्धाय तेन तथोच्यते। इदं पूर्वोक्तं सरहस्यं शुभाशीर्वचनं केन प्रयोजनेन सार्थकं भवति। यत्तदोः सर्वनाम्नोः प्रयोगेण वाक्यं प्रपूर्य नूनमेव किमपि तपःपरं वस्तु तत्र गुप्तं क्रियते। कवेः कालिदासस्य सर्वथैव विलक्षणोऽयं पदप्रयोगः।

अत्र वक्तव्ये कापि स्नेहधारा निष्यन्दते। स्नेहवशादेव कण्वः शापोदन्त–कथाप्रसरं परिहरति। स्नेहवशादेव तदाशीर्वचनं सरहस्यं प्रवर्तते। शापप्रभावं केनापि तपसा विनिमातुमिच्छया कण्वस्तथा वदति। दण्डविधिमुत्सृज्य शापस्य दुष्प्रभावं संस्कारविधिपूर्वकं तपोविशेषेण यथा सोढव्यं तथा शुभाशिषं व्यनक्तुमेव कण्वस्तथा वदति। शापस्याशुभत्वात्तपोविधानस्यापि कटुकत्वात्कण्वमुखे रहस्यमयी निरञ्जना शुभाशीर्वाणी प्रस्फुरति "यदिच्छामि ते तदस्तु" इति।

तत्र शकुन्तला कमपि प्रश्नं नोपस्थापयति। यदि पिता किमपि रहस्यं रक्षति, पुत्री प्रश्नेन पितरं न खेदयति। पिता यदिच्छति तदुभयथापि सख्याय भवति। अत एव सा सखीद्वयमुपेत्य कथयति–

"हला, द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्।"

पतिगृहं प्रस्थिता पुत्री पितुरीप्सितं सर्वथैव परिपालयितुमुत्सहते। पिता च तस्यै किमपि कटुकं पथ्यं प्रदातुं नोत्सहते। तदेवं तपःपरं पथ्यमपि कटुकायितं यदा कण्वः शकुन्तलागतत्वेन नैव वक्तुं पारयति, तदा तां प्रस्थातुं, त्वरयन् स्वगतत्वैनैव तपोमहिमानं पुरस्करोति–

"वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।"

तपोऽनुष्ठानमेव शकुन्तलायाः कृते कण्वस्य वक्तव्यमासीत्। तत्कण्वः शकुन्तलां प्रति कथमपि वक्तुं न प्राभवत्। तेन तदेव तपोऽनुष्ठानं तस्या कल्याणाय स्वयमाचरितुं कण्वस्य मनसि मन्ये संकल्पः समुदेति। अर्थात् शकुन्तलायाः जीवनं तपोमयं विधातुं कण्वः स्वयमपि तपोऽनुष्ठानेन वर्तिष्यते। शापप्रसंगस्तावदेवंविधं तपःप्रसङ्गमुद्भावयति। वराकी शकुन्तला तदेतत्सर्वं किमपि न जानाति। तथापि सर्वज्ञेव सा स्वपितरं तपश्चरणपीडितं मत्वा पुत्रीपरोत्कण्ठया तं ततोऽप्यधिकं पीडयितुं नेच्छति। अत एव कथयति–

"तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्।
तन्मा अतिमात्रं मम कृते उत्कण्ठितुम्।।"

कण्वस्य शरीरे या पीडा परिलक्ष्यते, सा वस्तुतः शकुन्तलायाः भविष्यचिन्तावशादेव वर्तते। अत एव शकुन्तला कथयति 'मा मम कृतेऽतिमात्रं शोचितु' मिति। एतस्मिन्नवसरे पिता पुत्रीं शोचति, पुत्री च पितरं शोचति। शापं तपसा विनिमातुं, तदनुकूलं तपः शकुन्तलायामाधातुं, स्वयं च तदर्थं तपोऽनुष्ठातुं कण्व इदानीं नूनमतिमात्रं शोचति। मलयपर्वतोन्मूलिता चन्दनलतेव शकुन्तला स्वकं दुःखं तथा न गणयति, यथा पितुः स्वास्थ्यं विचिन्त्य परितपति। शकुन्तला जानाति यन्मम कारणादेव पिता संतापमधिगच्छति। पूर्वतश्चिन्तापरः परिणयानन्तरं चेदितोऽप्यधिकं मामधन्यां चिन्तयिष्यति, का

गतिर्भविष्यति। पितुः स्वास्थ्यं संरक्षितुं पुत्री मृत्युमपि वरयितुं प्रभवति। प्रदानानन्तरं पुत्रीगतोत्कण्ठया पिता नात्यर्थं स्वशरीरं तापयेदिति शकुन्तला कण्वं निजपक्षतो विनिवारयति।

शकुन्तलाया दाम्पत्यपरं शापप्रभावं निजेनैव तपसा विनिमातुं कण्वो यत्पूर्वं संकल्पितवान्, तदजानती सत्यपि शकुन्तला पुत्रीपरोत्कण्ठया पितुरस्वास्थ्यं परिकल्प्य तं तथा परितप्तुं प्रतिषिध्य मन्ये स्वयमेव तद्विधं तपः प्रत्युत्सहते। तत्र प्राथम्येन पितापुत्र्योर्मध्ये प्रगाढतामुपगतस्य स्नेहस्य शिथिलीकरणं तावदावश्यकम्। प्रदानानन्तरं पुत्रीपरोत्कण्ठया पिता किमर्थं परितपतु। पितृकुलमुत्सृज्य पतिगृहगमनपरा शकुन्तला पुत्रीपरां पितुरुत्कण्ठां शोकाय मत्वा तामुत्कण्ठां स्नेहशैथिल्यविधिना शमयितुं चेष्टते। किन्तु शकुन्तलायास्तेन चेष्टितेन कण्वः पूर्वतोऽधिकतरं व्याकुलो भवति। पुत्र्याः भाविजीवनगतं दुरवग्रहं कथमसौ सोढुं शक्ष्यति। तदिदं स्नेहशिथिलीकरणं सः खल्वात्मनो जडत्वाय मत्वा साधिक्षेपं सन्निःश्वासं शकुन्तलामाह–

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः।।

अहो, स्नेहविनिवृत्तिकाले स्नेहिनां स्नेहः प्रबलायते। स्नेहप्रवृतिः सम्बन्धविशेषवशादनेकधा भवति। सख्यौ शकुन्तलाया विरहेण तपोवनं शून्यमिव प्रविशतः। किन्तु शकुन्तलागतः कण्वस्य स्नेहोऽत्र भिन्नेन मार्गेण प्रवर्तते। शकुन्तलां पतिगृहं सम्प्रेष्य यद्यपि कण्व इदानीं स्वास्थ्यमनुभवति, तथापि शापेन भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं भविष्यन्तीं विचिन्त्य भृशं शोकाकुलो भवति। शकुन्तलया उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयिष्यतस्तस्य शोकः शापावसानेनैव शममेष्यति, नान्यथा। इह पुण्याश्रमे यदारब्धं तद्गत्वा तत्र हस्तिनापुरे यदि विपद्यते, धर्मस्य का गतिर्भविष्यति। परिणीतां पुत्रीं पतिगृहं प्रस्थाप्य पिता जीवनपर्यन्तं तद्गतेन धर्मेण बद्धस्तिष्ठति।

धर्मं व्यवस्थापयितुं शाकुन्तले चतुर्थाङ्कस्य सर्वाधिकं महत्त्वमस्ति। चतुर्थाङ्कादन्यत्र कण्वो मञ्चं नाधिरोहतीति पूर्वमेवोक्तम्। इतः पूर्वं नाटकस्य यदङ्कत्रयं तत्र त्वसौ निजाश्रम एव नासीत्। अग्रिमे चाङ्कत्रये चासौ परोक्षतस्तिष्ठति। इहैव चतुर्थाङ्के स निजाश्रमे दर्शकैरवलोक्यते। मञ्चमेत्य सः शकुन्तलां पतिगृहं प्रस्थापयति। "पतिं प्रत्युपेहि" इत्येकेनैव मन्त्रेण स सम्पूर्णमपि विषयजातं धर्मेण योजयति। यद्येवं न स्यादिह नाटके धर्मस्य सर्वमायोजनं व्यर्थं स्यादिति मन्ये। इतः पूर्वं यत्किमपि गान्धर्वादिकं तत्सर्वं शापाय प्रतिफलितम्। इहैव चतुर्थाङ्के स शापोऽपि वराय प्रतिफलति। इहैव चतुर्थाङ्के परवर्तिनि कथावस्तुनि संस्कारस्य धारा प्रवाहिता। इहैव वर्णाश्रमव्यवस्था बलवती क्रियते। इहैव दाम्पत्येऽपि तपसो महती भूमिका प्रवर्तते। इहैव प्रकृतिः सर्वाधिकं प्राणिति। इहैव व्यवहारस्य व्यापकं सौष्ठवं विलोक्यते।

शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुके सर्वमपि वैवाहिकं कृत्यं स्वस्थतया सङ्गम्यते। चक्रवर्तिपुत्रप्राप्त्यनुरूपतया वैवाहिकं सर्वमपि संविधानं समर्थयता कण्वेन कन्यापितुरुच्चादर्शाः प्रस्तुतीकृताः। कन्यापितृत्वं न केवलं महते दुःखाय भवति, समाजस्य महते सौख्यसम्पादनायापि भवति। पितृकुलमुत्सृज्य कन्या पतिकुलमुपगता नवेन गार्हस्थ्येन समाजं समुपकरोति। कन्यादानं महादानमित्युच्यते। कन्यां प्रदाय पिता महतो यज्ञस्य फलमश्नुते। तत्सर्वमनुसन्धाय पिता कन्याप्रदाने धार्मिकेण विधिना प्रवर्तेत। धर्मः सर्वविधं सङ्कटं निरस्य सार्वत्रिकं सन्तुलनमाविष्करोति। संकटापन्नामपि कन्यां निजधर्मबलेन प्रस्थाप्य पिता सामाजिकं सौष्ठवं परिपालयति। शकुन्तलायाः प्रस्थापने पितुः कण्वस्य धार्मिकं बलं नैसर्गिकेण समर्थनेन प्रमाणितं भवति।

तपोवनतरवस्तस्यै विचित्रं क्षौमयुगलं बहुविधमलंकारजातं च प्रयच्छन्ति। वनदेवतास्तत्र स्वयमापर्वभागोत्थितैः किसलयोद्भेदप्रतिस्पर्धिभिः

करैरिदं माङ्गल्यमाभरणादिकमुपस्थापयन्ति। वनदेवतासहितैर्वनवास–बन्धुभिस्तैस्तरुभिरियं शकुन्तला पतिगृहगमने कोकिलरवेण नूनमनुमन्यते। आकाशमपि शुभाशिषा शब्दायमानं सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति–

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि–
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्क– मयूखतापः।
भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः।।

सर्वमपि तपोवनं शकुन्तलाया विरहे कातरं परिलक्ष्यते–

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।।

पुत्रकृतको मृगपोतकस्तस्या निवसने सज्जते–

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।।

– इत्यहो कन्यायाः प्रस्थापने कण्वस्य नैसर्गिकमायोजनम्। वस्तुतो निसर्गस्यैव कन्या वर्तते सा शकुन्तला, कण्वस्तु केवलं धार्मिकेनैव सम्बन्धेन तस्याः पितेति व्यपदिश्यते। कण्वस्तां निसर्गकन्यां धर्मतः प्रस्थाप्य सम्पूर्णमपि संसारं सनिसर्गं कर्तुमिच्छति। नैसर्गिकेण महिम्ना भुवं मण्डयितुं धर्मो लोके प्रवर्तते। निसर्गं लोकानुरूपं लोकं च निसर्गानुरूपं कर्तुं कण्वाश्रमे धार्मिकं सत्रं सततं प्रचलति। "इमे अपि प्रदेये" इति कण्वस्य कथनं तत्र सहृदयैरनुसन्धेयम्।

निसर्गकन्यां लोकाधिपतये वराय प्रस्थापयितुं कण्वो यत्र नैसर्गिक–मेवोपादानमादत्ते तत्रैव लोकरीतिमपि न विस्मरति। निसर्गस्य निदेशकत्वेन पतिगृहगमनपरायै शकुन्तलायै निसर्गस्यानुज्ञां स निम्नांकितेन पद्येन निर्दिशति–

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।

निसर्गस्य नियमनेन लोकोन्मुखीकरणेन वा धर्मस्य पक्षमेकमुद्घाट्य कण्वो लोकमपि निसर्गपरं सन्दिश्य धर्मस्यापरं पक्षमपि स्वयमेवोद्घाटयति। निसर्गकन्यां शकुन्तलां पतिगृहं प्रस्थापयता तेन लोकाधिपतिर्दुष्यन्तो निम्नांकितेन वचसा सन्दिश्यते–

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन–
स्त्वय्यस्यां कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः।।

एकतस्तु तपोवनमपरतश्च राजभवनमिति महदन्तरं विभाव्य शकुन्तला–याश्चरणौ दुःखदुःखेन पुरतः प्रवर्तेते। सोदरां लताभगिनीं वनज्योत्स्नां चूतसंगतामप्यालिङ्ग्य सहोदरं दीर्घापाङ्गं नाम मृगपोतकञ्च यथा तथा समाश्वास्य भृशं रुदती प्रस्थिता सा शकुन्तला कण्वेन प्रतिबोधिता–

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
वाष्पं कुरु स्थिरतया शिथिलानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति।।

पतिगृहं गत्वा तत्र गृहिणीपदोपलब्धये वधूजनोपयुक्तं चोपदिश्यते–

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।

इत्येवं धार्मिकं व्यावहारिकं च दायित्वं कन्यापक्षगतं सर्वमपि कण्वः सर्वतोभावेन सम्पादयति। मन्ये गार्हस्थ्यधुरन्धरोऽपि तत्र तथात्वेन तदेतत्सर्वं निर्वाहयितुं न पारयिष्यति। किन्तु शकुन्तला कण्वस्यौरसी कन्या नास्ति। निजामौरसीं कन्यां पतिगृहं प्रस्थापयितुं प्रवृत्तस्य गृहस्थस्य या पीडा भवति, तां पीडां तपस्वी कण्वः कथमनुभवतु? अरण्यौकसः पीडया गृहिणः पीडाया इयत्ता निर्धारिता न भवति। परिपालितायाः प्रसूतायाश्च पुत्र्याः प्रस्थापने पितुर्वैक्लव्ये नूनमेव केनचिदन्तरेण भाव्यम्। तदन्तरं सोढुं कण्वो नेच्छति। "पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवै"रित्यसौ मुहुश्चिन्तयति। 'गृहिणो यथा पीड्यन्ते तथैव सोऽपि परिपीड्येत' इति तस्य कामना प्रतिभाति। तदर्थं सः निजं हृदयं प्रविश्य गृहस्थेन पित्रा सह स्वकीयं तादात्म्यं साधयितुमिच्छति। किन्तु "अद्य शकुन्तला यास्यति" इत्येतावन्मात्रेण तस्य हृदयं तथोत्कण्ठितं भवति, यत्कण्ठः शुष्यति दर्शनं च जडीभवति। प्रस्थानपरां शकुन्तलां न जाने कथं द्रष्टुं शक्ष्यति कथं वा किमपि वक्तुं प्रभविष्यति। स्नेहादेव तावदेवं भवति। जन्मना पितृत्वेन च न जाने कियद्वा कीदृशं वा वैक्लव्यं गृही जनोऽनुभवति? इत्येवं हृदयानुप्रवेशो नाम श्लोकोऽयं सहृदयैः सर्वाधिकं प्रशस्यते–

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं स्पृष्टं यदुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कियन्नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।।

चतुर्थाङ्के चतुर्षु श्लोकरत्नेषु गुरवो हृदयानुप्रवेशाख्यं श्लोकममुं प्राथम्येन गणयन्ति। 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यती'त्यादिकं निसर्गनिर्देशाख्यं श्लोकरत्नं द्वितीयं कथयन्ति। 'अस्मान् साधु विचिन्त्ये'त्यादिकं दाम्पत्यसम्मान–सन्देशाख्यं श्लोकं तृतीयं श्लोकरत्नं वदन्ति। 'शुश्रूषस्व गुरू' नित्यादिकञ्च वधूजनोपदेशाख्यं चतुर्थं श्लोकरत्नं निगदन्ति। अत्र केचन मम परम्परागुरवः 'अस्मान् साधु विचिन्त्ये'त्यादिकं' श्लोकमपास्य–

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।

इत्यनेन कन्यार्थसमुद्देशाख्येन श्लोकेन श्लोकरत्नेषु चतुर्थीं संख्यां पूरयन्ति। केचनं शिष्योन्मिश्रा गुरुकल्पाः कण्वशिष्योक्तं पूर्वोल्लिखितं 'यात्येकतोऽस्तशिखर'मित्यादिकं श्लोकं श्लोकचतुष्टये प्राथम्येन पुरस्कुर्वन्ति। वयन्तु सर्वथैव शिष्यभूताः शिष्योक्तं पूर्वोल्लिखितं श्लोकचतुष्टयमेव तथात्वेन मन्यामहे।

अथ पञ्चमोऽङ्कः

अथ शकुन्तलाप्रत्याख्यानं नाम पञ्चमोऽङ्कः प्रवर्तते। चतुर्थाङ्कस्य कथावस्तु कण्वाश्रमपरिसरे सम्पन्नम्। पञ्चमाङ्कस्य कथा हस्तिनापुरे दुष्यन्तस्य राजभवने सम्पद्यते। चतुर्थाङ्के कण्वेन पतिगृहं प्रस्थापिता शकुन्तला पञ्चमाङ्के दुष्यन्तेन प्रत्याख्याता प्रताडिता च भवति। दुर्वाससः शापस्तत्र हेतुरस्ति। शापेन दुष्यन्तस्य मतिर्व्यवहिता। स शकुन्तलां न परिचिनोति। अपरिचिता गर्भगुर्वी परस्त्री कथं पत्नीत्वेन स्वीकर्तुं युज्यते।

किन्तु शकुन्तलायाः कस्तावदत्र दोषः? सा तु शापमपि न जानाति शापस्य कारणमपि न विजानाति। समग्रेण हृदयेन स्वपतिं चिन्तयन्ती सा कदाचिदभ्यागते पूजार्हे मुनिजने नूनमपराद्धेति यदुच्यते, तत्र दृढं पृच्छामः। समग्रेण हृदयेन स्वपतिं चिन्तयन्ती सा पतिव्रतपरायणा कस्यापराधं करोति? अनन्यमानसेन स्वपतिं भजमाना सा किमर्थं कस्यापि कोपभाजनं भवति? अतिथिसत्कारे पित्रा विनियुक्ता स्वकीयं दायित्वं न निर्वहतीति यदुच्यते, तत्र तथाभूतां तां दृष्ट्वा तदा तत्सख्या प्रोक्तमेव 'भर्तृगतया चिन्तया आत्मानमपि नैषा विभावयति, किं पुनरागन्तुकमि'ति। तत्समानेनैव प्रत्युत्तरेण द्वयमपि तदातिथ्यदायित्वविषयकमभियोजनं परास्तं भवति।

आगन्तुकस्यागमनमेव या न जानाति, सा किमर्थं तस्य शापस्य वशवर्तिनी भवति? आगतोऽतिथिर्यदि निजागमनेन कमप्यातिथेयं बोधयितुं न पारयति, तर्हि स केन पथा निजं शापं तज्जीवने प्रापयितुं प्रभवति? यस्य शब्दः कर्णे न विशति तस्य शापः परितोऽपि जीवनं कथं दुर्व्याप्नोति? शब्दापनेऽपि शब्द एव प्रयुज्यते, शापेऽपि च शब्द एव प्रयुज्यते। एकः शब्द

लक्ष्ये न पतति, अपरश्च समन्तादापतति। कोऽयं क्रमः?

सेयं शकुन्तला अतिथेरागमनं तच्छापं च यद्यपि न जानाति, तथापि हन्त! अतिथिरागतः शापश्च तेन प्रदत्तः। तत्सर्वमजानती साधुना निजेन पत्या परकीयेति प्रत्यादिष्टा। अथ चेदं द्वितीयं विडम्बनमत्र विलोक्यताम्। येन पत्या सेदानीं तथा प्रत्याख्याता भवति, स पतिरपि शापोद्भ्रान्तमतिस्तथ्यं किमपि न जानाति। शापप्रसंगं स्वकीयं स्मृतिभ्रंशं वासौ यदि चेदज्ञास्यत्, निर्दोषां निरपराधां शकुन्तलां किमर्थमदण्डयिष्यत्। तदेवं द्वावप्यज्ञानिनौ द्वावपि च निरपराधौ साम्प्रतमधिकाधिकेन निजेनाभियोगेन परस्परं विवदमानौ स्तः। अथ शापग्रहे कस्यापराधो वरीयानिति कृतेऽपि बहुविचारे तौ द्वावपि शकुन्तलादुष्यन्तौ समानापराधिनौ सिध्यतः। तत्कथं पतिरेव दण्डयिता भवेत्, पत्नी पुनर्दण्ड्येत?

वस्तुतो नास्ति तयोर्द्वयोर्मध्ये कश्चिदेकोऽपि दण्डयिता। दण्डभोगे च द्वावपि तौ दण्डभोक्तारौ। अथ तयोर्दण्डभोगे तौ द्वावपि परस्परं कारणीभूतौ स्तः। शकुन्तलायाः कारणेन दुष्यन्तो दण्डं भुनक्ति, दुष्यन्तस्य च कारणेन शकुन्तला दण्डिता भवति। अहो, गार्हस्थ्यम्। दुष्यन्तस्य कारणादेव शकुन्तला शापिता, शकुन्तलायाः शापादेव च दुष्यन्तस्य स्मृतिभ्रंशः। दुष्यन्तस्य स्मृतिभ्रंशेन शकुन्तला परित्यक्ता भवति, शकुन्तलायाः पर्यनुयोगेन च दुष्यन्तो धर्मसंकटे पतति। अन्योऽन्यपरीवादपरिग्रह एवात्र विजृम्भते तत्कस्तावदत्र धर्मः कश्चाधर्म इति कथं निर्णेष्यते।

तत्र शाकुन्तलधर्मविज्ञानवेत्तारः कथयन्ति यद्भौतिकतामधिकृत्य प्रवर्तमानो धर्मस्तावदेवमेव परस्परं खण्डितो भवति। यावदाध्यात्मिकोऽपि पक्षस्तत्र नोद्भाव्यते, धर्मः सर्वाङ्गीणो न भवति। आध्यात्मिकतां विना धर्मः परमार्थेन संश्लिष्य न प्रवर्तत। यदात्मतलावगाहि भवति तदेव संश्लेषणमर्हति। आत्मिकं बलमेव भूमानमधिरोहति। अध्यात्मं विना पारस्परिकं सात्म्यं न

सिध्यति। भौतिके जगति यद्वैषयिकाः सम्मिल्य प्रवर्तन्ते, तत्प्रामाणिकं न भवति।

शाकुन्तलस्य प्राथमिकेऽङ्कत्रये भौतिकताया एव विलासः परिदृश्यते। पञ्चमाङ्कादाध्यात्मिकतापि तत्र प्रसज्यते। आध्यात्मिकं तत्त्वं प्रच्छाद्य यद्भौतिकेनैव स्वत्वेन प्रथमं प्रारब्धम्, तदिदानीमाध्यात्मिकेन वस्तुना व्यवस्थाप्य धर्मस्यान्वितिक्रमः प्रस्तूयते। प्रथमं बाह्यमेव वैभवमाराध्य पर्यन्ते तद्गतमाध्यात्मिकवैभवोत्पादनेन धर्मगता सम्पन्नता सम्पाद्यते। प्राथमिकं मांसलं प्रेम पश्चादात्मिकेन प्रेम्णा संयुज्य धर्माय प्रवर्तते। देहात्मनोरैक्येन धर्मे गतिर्भवति। बाह्याभ्यन्तरयोः सामञ्जस्येन धर्मस्य वास्तविकं स्वरूपमाविर्भवति। भौतिकाध्यात्मिकयोः सन्तुलनेनैव धर्मः संरक्ष्यते।

तृतीयांकपर्यन्तं नाटकीयं यदितिवृत्तं तदेकतस्तु दुर्वाससः शापेन दण्डतया प्रतिफलितम्, अपरतश्च कण्वस्य प्रसादेन संस्कारतया वरोपलब्धये व्यवस्थापितम्। तदनुसारेण पञ्चमाङ्के प्रवर्तमानं नाटकीयं यद्वस्तुविधानं तत्र न केवलं तिरस्कारोऽपितु संस्कारोऽपि सुतरां वर्तत एव। पूर्वं सुखे दुःखमायोज्य पश्चाद् दुःखे सुखस्यायोजनेन सर्वमपि शाकुन्तलं वस्तुविधानं धर्मस्य पन्थानमाविष्करोति।

पञ्चमाङ्के नायकनायिकयोर्बाह्ये विवादे तदन्तर्गतः सूक्ष्मतरः संवादो न विस्मर्तव्यः। शापस्य कारणाद् यदनयोर्विप्रयोगस्तत्र संस्कारक्रमोऽपि ध्यातव्य एव। शकुन्तलाया यदप्रत्याशितं प्रत्याख्यानं तत्र लयविशुद्धाया गीतेः स्वरसन्धानमपि प्रतीयते। दुष्यन्तस्य स्मृतिविपर्ययेऽपि कश्चन वर्णपरिचयः सम्पद्यते। तदेतत्सर्वं पञ्चमाङ्कस्य प्रारम्भे हंसपदिकाप्रसंगे स्वयमेव कालिदासो विशदं प्रकाशयति। तत्र विदूषको दुष्यन्तं कथयति—

"भो वयस्य, संगीतशालाभ्यन्तरे अवधानं देहि।

लयविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोति।"

दुष्यन्तो हंसपदिकया गीयमानां गीतिमाकर्णयति—

अभिनवरसलोलुपो भवाँस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽसि कथमेनाम्।।

तामेतां गीतिं समाकर्ण्य "अहो रागपरिवाहिणी गीति" रिति दुष्यन्तः साधुवादं वितरति।" किं तावद् गीतेरवगतोऽक्षरार्थः" इति विदूषकेण पृष्टो दुष्यन्तः सस्मितं प्रत्युत्तरति—

"सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तस्याः देवीं वसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माधव्य, मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।"

अथ चैवंविधं गीतार्थमाकर्ण्य दुष्यन्त इष्टजनविरहादृतेऽपि स्वात्मानं बलवदुत्कण्ठितं मत्वा चिरं पर्याकुलस्तिष्ठति। तदा तस्य मनसि तावदेवं भवति—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराँश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।

तदिदं हंसपदिकागीतिवृत्तं पञ्चमाङ्कस्य सम्पूर्णेऽपि वृत्तान्ते रसनिर्भरां व्यञ्जनां प्रवर्तयति। तेन तत्र प्रत्याख्यानादिकं विषमाभिधानं वृत्तान्तजातं विलक्षणेन व्यङ्ग्यार्थेन व्यवस्थापितं विधीयते। अभिधा यावदत्र विपर्यस्तं वृत्तमुपस्थापयति व्यञ्जना तावत्तत्र सामञ्जस्यमवतारयति। अभिधया यत्किमप्यत्र प्रस्तूयते तत्सर्वमपि भौतिकं वैषयिकं बाह्यं चास्ति। व्यञ्जना पुनरत्र नूनमाध्यात्मिकेनाभ्यन्तरिकेन पथा प्रवर्तते। तदेतदवगन्तुं हंसपदिकावृत्तं

सूक्ष्मतया पर्यालोचनीयं भवति।

हंसपदिकावृत्ते प्रेयसी प्रणयी चेत्युभावपि दृश्येते। द्वयोः पृथक्त्वेनैवात्र सम्मिलनमवलोक्यते। यत्पुनः "निपुणमुपालब्धोऽस्मीति" वचनं सन्दिश्य दुष्यन्तो विदूषकं तत्सविधे प्रेषयति, तत्र विदूषकस्तदर्थं गच्छन्नपि दुष्यन्तं यद्विज्ञापयँस्ततो निर्गच्छति तदवलोक्यताम्—

"भो वयस्य, गृहीतस्य तया परकीयैः हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्य अप्सरसा वीतरागस्येव नास्ति इदानीं मे मोक्षः।"

तदेवं तयोर्मध्ये प्रणयोपालम्भविषयको वाग्व्यवहारोऽपि विपद्यमान एवास्ति। तथापि सा विरहगीतिकां गायति, स चैष दुष्यन्तो गीतार्थं समवधार्य पर्याकुलस्तिष्ठति। तदत्र व्यावहारिके सम्बन्धे परिहीयमानेऽपि कश्चिदाध्यात्मिकः सम्बन्धः क्रमशः पुटपाकमर्हति। आध्यात्मिकता व्यवहारं नापेक्षते। आध्यात्मिकतायां च सम्पद्यमानायां धार्मिको व्यवहारः स्वयमेव सम्पद्यते। किन्तु वैषयिको जनोऽध्यात्ममुपेक्ष्य यद्बलादेव व्यवहर्तुमिच्छति, तद् दुःखाय भवति।

आध्यात्मिकता स्वतस्त्वेन प्रवर्तते। परतस्तत्र न काचिदपेक्षा भवति। तथापि स्वतस्त्वेन प्रवर्तमाना निरपेक्षाप्याध्यात्मिकता नैजेन धर्मबलेन परानाधृत्य प्रवर्तते। नैजेन धर्मेण परस्परं धार्यमाणयोराध्यात्मिकयोर्जनयोर्मध्ये यः सम्बन्धः स धार्मिकः सम्बन्ध इति कथ्यते।

शाकुन्तलस्य पञ्चमाङ्के राजधर्मः प्रमुखायते। शुष्कतर्कबहुला राजनीतिर्यदा लयविशुद्धां गीतिं सहकृत्य प्रवर्तते, तदा राजधर्मः समुदेति। राजधर्मसमर्थका राजनीतिं लोकगीतिं च समानेन शिरसा सम्भावयन्ति। लोकसंगीतशालाभ्यन्तरे श्रूयमाणां गीतिमुपजीव्य राजा राजनीतौ राजधर्मं व्यवस्थापयति। तदेव तथ्यं प्रकटयितुं राष्ट्रकविः कालिदासः पञ्चमाङ्के हंसपदिकावृत्तान्तमुपयोजयति। यस्माल्लोके धर्मो हंसचारेण संचरति, तस्माद्

मन्येऽत्र हंसपदिकाख्यानं काव्यधर्मानुसन्धानतया सर्वथैव युज्यते। काव्यधर्मानुसन्धानमतिरिच्य प्रसंगस्यास्य नान्यत् किमपि प्रयोजनं पश्यामः।

तदिदं काव्ये धर्मानुसन्धानपरं हंसपदिकाख्यानं प्रधाने कथावस्तुनि नूनमाध्यात्मिकेनैव पथा प्रयुज्यते। हंसपदिका स्वतस्त्वेन यद्गायति, तन्नहि स्वार्थाय, अपितु परार्थाय प्रयुज्यते। हंसपदिकाया गीतार्थमवगत्य दुष्यन्तो हंसपदिकायाः कृते न तावदुत्कण्ठितो भवति। स तु तेन गीतार्थेन जन्मान्तरीयं तावदिष्टजनविरहं संभाव्य वस्तुतो विस्मृताया शकुन्तलाया एव कृते बलवदुत्कण्ठितो भवति। यद्येवं न स्याद् हंसपदिकाप्रसंगस्य प्रयोजनमेव बाधितं भवति।

भौतिको जनः सर्वं स्वार्थाय कुरुते। किन्तु हंसपदिकाया मनसि स्वार्थसाधनस्य लिप्सा नास्ति। सा तु "निपुणमुपालब्धोऽस्मी"ति दुष्यन्तस्य प्रत्युत्तरमपि नेच्छति। अत एव तां प्रति दुष्यन्तसन्देशव्यवहारे विदूषकः कलहमाशंकते। पूर्वं कदाचित् दुष्यन्तहंसपदिकयोर्मध्ये वैषयिकः सम्बन्ध आसीत्। किन्त्वधुना तयोराध्यात्मिकः सम्बन्धः सर्वथैव सुप्रतिष्ठितः। राजभवने सा संगीतशालाभ्यन्तरे पारमार्थिकेन संगीतेन धर्माय प्रवर्तते। तस्या विरहगीतिकायां काचिदपि विषयवासना नास्ति। धर्मेण प्रेरिता सा तां गीतिं गायति। दुष्यन्तस्य निःस्वार्थं हितसाधनं सा नूनमिच्छति। अत एव तदीया विंरहगीतिका शकुन्तलादुष्यन्तयोर्विरहव्यथायां पर्यवस्यति। अध्यात्मबलेन सा शकुन्तलया संयुज्यते। व्यवहारदशायां नैव शकुन्तला हंसपदिकां जानाति, नैव च हंसपदिका शकुन्तलां विजानाति। तथाप्यत्र हंसपदिकाया गीतिक्रमे स्वरसन्धानेन शकुन्तला सर्वथैव स्पृश्यते। हंसपदिकामुखादुच्चरितो वर्णः शकुन्तलां संस्पृश्य स्वपरिचयं प्रस्तौति। स्वरस्य वर्णस्य वा पृथक्त्वेन सम्मिलनं संभवत्येव।

प्राच्यपरम्परायां स्वरो वर्णश्चेति धर्मविज्ञानरथस्य चक्रिकाद्वयं कथ्यते। यद्यपि स्वरः वर्णश्चेति पर्यायौ स्तः। य एव स्वरसंयोगः स एव वर्णपरिचय इत्युच्यते। तथापि पार्थक्येन यदेकीकरणं तत्साहित्यशास्त्रानुसारि भवति। स्वरसंयोगो वर्णपरिचयश्चेति धर्मविज्ञानस्य सूत्रद्वयं गीतिक्रमादि्भन्नेऽपि जीवनक्रमे चरितार्थं भवति। स्वरस्य व्यापकं महत्त्वमधिकृत्य प्रोक्तं शिवस्वरोदये–

स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गान्धर्वमुत्तमम्।
स्वरे च सर्वत्रैलोक्यं स्वर आत्मस्वरूपकः।।

ब्रह्माण्डखण्डपिण्डाद्यं स्वरेणैव हि निर्मितम्।
सृष्टिसंहारकर्त्ता च स्वरः साक्षान्महेश्वरः।।

स्वरज्ञानात्परं मित्रं स्वरज्ञानात्परं धनम्।
स्वरज्ञानात्परं गुह्यं न वा दृष्टं न वा श्रुतम्।।

अपि च –

स्वरा हि मातृकोच्चारा मात्राव्याप्तं जगत्त्रयम्।
तस्मात्स्वरोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।।

वर्णविषये तावदिदं परम्परा श्रूयते–

सिसृक्षा सहजा प्रोक्ता तां सिसृक्षां वृणोति यः।
स वर्णः सर्ववर्णेषु गुणनात् परिचीयते।।

गुणनं ज्ञानयोगेन ज्ञानं चार्थे व्यवस्थितम्।
तस्मात् शब्दार्थयोर्ज्ञाता सवर्ण इति कथ्यते।।

अपि च–

इच्छाशक्तिर्ज्ञानयोगात् क्रियार्थं प्रति धावति।
क्रियार्थे पुरुषार्थानामुपपत्तिर्विलोक्यते।।

धर्मस्तत्र सदर्थाय सर्वगः सद्भिरुच्यते।
विना सत्त्वं विना धर्मं पौरुषं निष्फलं मतम्।।

यथा स्वरो भौतिके शरीरे प्रस्फुरति, तथैव वर्णोऽपि भौतिके शरीरे प्रस्फुटति। तथापि स्वरसंयोगेन वर्णपरिचयेन च शरीरात्मनोरैक्यं सम्पद्यते। इदं वैयक्तिकं शारीरकं धर्मविज्ञानं समाजेऽपि समानं प्रवर्तते। अस्माकं शरीरे स्वरा वर्णाश्च यथा परस्परं संयुज्य नूतनतया प्रवर्तन्ते, तथैव समाजेऽपि वैयक्तिकाः स्वरा वर्णाश्च परस्परं संयुज्य नूतनतया प्रवर्तन्ते। संसारे सोऽयमाध्यात्मिकः संचारः प्रतिफलति। तत्र न स्वार्थो न विवादो नाहंकारलेशोऽपि भवति। तदुक्तम्–

जीवो जीवति जीवेन यच्छून्यं तत्स्वरो भवेत्।

प्राणिनः स्वरवर्णगतां धार्मिकीमन्तर्धारामुपास्य परमार्थं साधयन्ति। शाकुन्तले हंसपदिकाया स्वरसंयोगेन सम्पद्यमानो वर्णपरिचय एकतस्तु विरहविधुरां शकुन्तलां स्पृशति, अपरतश्च दुष्यन्तस्य स्मृतिभ्रंशमुपालभते। यद्यपि शकुन्तलास्पर्शः दुष्यन्तस्मृतिभ्रंशोपालम्भो वा हंसपदिकाया अभीष्टं नास्ति। सा तु निरपेक्षं गीतिरसमेव केवलं कामयते। तथापि तद्गायनेन नूनमेतदुभयमपि संपद्यते। कथमन्यथा दुष्यन्तो गीतार्थमाकर्ण्य विस्मृतामपि शकुन्तलां जन्मान्तरीयसुहृज्जनानुरागकल्पनया तथा संस्मरन् पर्याकुलस्तिष्ठति।

तेन हंसपदिकाया गीतिक्रमे सृष्टिक्रमस्य रहस्यमाविर्भवति। तदनुसारेण वैयक्तिके जीवने सामाजिकता सामाजिके च जीवने वैयक्तिकता प्रतिफलति। स्वराः वर्णाश्च सृष्टौ व्यष्टिसमष्ट्योर्मध्ये नूनमेव कामपि धार्मिकीमन्तर्धारां प्रवर्तयन्ति। एका घटना धर्मबलेन प्रवर्तमानामपरां घटनां संघटयितुं नूनमेव

प्रवर्तते। स्वकीयं जन्मान्तरीयमपि कृत्यं प्रवर्तमानस्य जीवनस्य क्रमं नूनमेव निर्धारयति। तेन हि धर्मस्य सार्वभौमिकता सिध्यति।

राजधर्मः दण्डनीतिं प्रतिपालयति। राजा दण्डनीतिं प्रतिपालयन्नेव राज्ये संस्कारं संसाधयति। धर्मस्य हेतवे राजा कदाचिदात्मानमपि दण्डयते। 'राजा कालस्य कारण'मिति यदुच्यते, तत्र राजधर्मेण कालधर्मस्य नियमनमुच्यते। किन्तु नेदं विस्मरणीयं यदिदं कालधर्मनियमनं राजधर्मान्तर्गतत्वेनैव संभवति। राजा कालधर्मं स्वस्मिन् सन्धारयन्नेव तन्नियमने प्रभुर्भवति। कालधर्मसन्धारणक्रमे देशोद्भवा दोषा राजनि संक्रामन्ति। ताँश्च देशकालयोरागन्तुकान् स्वगतान् दोषानपाकृत्य राजा राज्यगतानामपि दोषाणामपाकरणे सामर्थ्यमावहति। तदर्थं क्रियमाणे दण्डविधाने राजा सदोषं स्वात्मानमेव प्रथमं दण्डयते, तदनन्तरं सदोषां प्रजामपि दण्डयितुं प्रवर्तते। मृगयाक्रमे क्रियमाणे गान्धर्वविवाहे याः काश्चन व्यावहारिक्यस्त्रुटयस्तथात्वेन तदानीं देशकालोद्भाविताः सत्यो राजनि संक्रान्तास्तदुपशमनं दण्डविधानेनैव सम्भवतीति स्वगतत्वेनैव क्रमेण दण्डनीतिरत्र परिपाल्यते। राजा स्वयं जानन्नेव तदेतत्सर्वं विदधातीति कथमपि नोच्यते। दिव्यं तावदत्र प्रवर्तते।

दुर्वाससः शापस्य परिणतिरेवं भवति यद्राजनीतिरलौकिकेन दण्डविधिना युज्यते। राजदम्पत्योरुपरि निपतितः सोऽयमध्यात्मदण्डः पर्यन्ते राजधर्मस्य परिपोषको भवति। विस्मरणादधर्म इवाचर्यमाणोऽपि धर्मः सदण्डः सन्नपि धर्मिणो रक्षायै भवति। आत्मानं दण्डयन्नपि कश्चिदिह धर्मं चरति। तद्विज्ञातुमाधुनिके युगे गान्धिजीवनदर्शनं तावदध्येयं भवति।

कण्वाश्रमादागतानामृषीणामागमनं निवेदयितुं राजानमुपक्रममाणः कञ्चुकी स्वदण्डग्रहणमवलम्ब्य यद्वदति, तद् व्यञ्जनावृत्या प्रकरणगतया वक्रोत्या वा राज्ञो दण्डावलम्बनवैवश्यमपि प्रकाशयति। तत्र प्रविष्टः कञ्चुकी 'अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि' इत्युक्त्वा पद्यमिदं ब्रूते—

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थान– विक्लवगतेरवलम्बनाय।।

एकतस्तु दुर्वाससः शापेन दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकं सर्वमपि विस्मृतवानस्ति, अपरतश्च गर्भगुर्वी शकुन्तला पत्नीत्वेन दुष्यन्तमभ्युपैति। अस्यामवस्थायां किं भविष्यति? अविज्ञातामापन्नसत्त्वां परस्त्रीं दुष्यन्तः पत्नीत्वेन कथं स्वीकर्तुमर्हति? अस्वीकारे पुनः स्वदारत्यागापराधस्य दण्डं स्वयमेव भुनक्ति। परस्त्रीपरिभोगापेक्षया स्वदारत्यागापराधस्य दण्डावलम्बनमेव वरं मन्ये। अहो, चक्रवर्ती सम्राडपि कदाचिदेवं स्वयमेव दण्डितो भवति। दण्डाधिकारं राजोचिताचारपरिपालनार्थमेव मत्वा दण्डप्रयोगं विनैव स्वधर्मबलादेव यः सर्वदा स्वराज्यं प्रशास्ति, स एवेदानीं दण्डावलम्बनं विना कथमपि प्रस्थातुं न पारयतीति किमुच्येत? उपस्थितायां परिस्थितौ यः धर्मस्य रक्षायै स्वात्मानं न दण्डयिष्यति, स स्वधर्मबलेन कथंकारं प्रशासनं प्रचालयिष्यति?

लोकः धर्मस्य रक्षार्थमेव राज्ञे षष्ठांशमर्पयति। लोकार्पितेन तेनैव षष्ठांशेन राज्ञो वृत्तिः प्रचलति। राजा लोकधर्मानुरोधेनापि दण्डधरो भूत्वा लोकधर्मेण सहैव स्वकीयां वृत्तिमपि संरक्षितुं प्रयतते। लोकं व्यवस्थाप्य राजा स्वयमपि व्यवस्थितो भवति। धार्मिके व्यावहारिके च व्यवस्थापनक्रमे दण्डस्य महती भूमिका वर्तते। मनुः प्राह–

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्तिदण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।।

'सुप्तेषु जनेषु धर्मः दण्डतया परिणमते' इति कथनं प्रस्तुते प्रसंगे संघटते। विस्मृतिः सुप्तिरेव भवति। शापस्य कारणाद् दुष्यन्तः परिणीतामपि

शकुन्तलां विस्मृतवान्। तत्कथमिदानीं तां प्रति स स्वधर्मं निर्धारयितुं शक्नोति। तदत्र सम्यक्त्वेनानिर्धारितो धर्मस्तत्र दण्डतया परिपतति।

केवलया धर्मेच्छया न धर्मसिद्धिर्भवति। तदर्थं ज्ञानमपि सुतरामपेक्षते। इच्छाशक्तिर्ज्ञानयोगादेव धार्मिकीं क्रियां प्रवर्तयति। ज्ञानञ्च शापेन नष्टम्। अभिज्ञानकमपि किमपि नास्ति। ज्ञानाभावे कथं धर्मो धर्मतया स्थातुमर्हति। तदिदानीं धर्मो दण्डतया परिणमते। दण्ड एवेदानीं धर्म इति कथ्यते। इह दण्डो धर्मस्यापरं स्वरूपमाविष्करोति। धर्मो धर्मतया न स्थीयते चेद्दण्डतया परिणमते। स च दण्डो धर्म एवेति कथ्यते। दण्डस्य सम्यक् परिपालनं धर्माय भवति। ज्ञानिनां कृते यदेव धर्मविधानं तदेव पुनरज्ञानिनां कृते दण्डविधानं भवति। किन्तु तदपि दण्डविधानं धर्मविज्ञानाय भवति। तेन दण्डविधिरपि संस्कारविधावन्तर्भवति। अत एव संस्कारविधिप्रवर्तनावसरे कण्वो दुर्वाससो दण्डविधिमधिकृत्य किमपि न वदति। दण्डं श्रुत्वा जनो बिभेति। भयाच्च दुर्बलो भवति। तस्माद्दण्डो धर्म एवेति संस्कार एवेति वा बुधैरुच्यते। सदोषो जनः सदोष इति नोक्त्वा प्रकारान्तरेण बुधैर्निर्दोषो विधीयते।

ज्ञानमज्ञानं सुप्तिर्जागृतिः स्मृतिर्विस्मृतिः दोषोऽदोषश्चेति यदुच्यते, तद्गतत्वेन च धर्मो दण्डो वेति यद्विधीयते, तद्राजनि दुष्यन्ते चक्रवर्तित्व–सम्पादनाय भवति। दुष्यन्तस्य चरित्रं सार्वभौमं कर्तुमेव सांसारिकं सर्वमपि द्वन्द्वजातं तज्जीवने सन्निवेश्यते। अपदार्थोऽपि संसारो दुष्यन्तस्य चरित्रे पदार्थतया नियम्यते। लोक इवाचरन्नपि दुष्यन्तो सर्वस्मादपि लोकाद् दशाङ्गुलमतितिष्ठते।

कविरत्र लोकतन्त्राधिकारस्याध्यात्मिकं संस्करणमुपस्थापयति। लोकस्य तन्त्रणं राजनि भवति। यतो हि काचिदलौकिकतापि राजनि निरन्तरं तिष्ठति। तद्वशादेव स लोकतन्त्राधिकारी भवति। लोकमात्मनि संयम्य यदाध्यात्मिकेन

विधिना धर्मस्य दण्डस्य वा विश्वतोमुखं प्रवर्तनम्, तदलौकिकेन सामर्थ्येन विना नैव सम्भवति। तेन चालौकिकेन सामर्थ्येन राजा सुप्त्वापि जागर्ति, विस्मृत्यापि जन्मान्तरीयं स्मरति, अजानन्नपि जानाति, सदोषोऽपि निर्दोष इति मन्यते। लोकवृत्तिर्भूत्वापि स परमेश्वरेणैव विनिर्मितो भवति। तदुक्तं तेनैव मनुना–

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येव सर्वभूतानि तेजसा।।

लोकतन्त्राधिकारो राज्ञः स्वधर्म इति कथ्यते–

भानुः सकृद् युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।।

लोकव्यवस्थासम्पादने सदैव तत्परः सन्नपि दुष्यन्तो लोकादसम्पृक्त–स्तिष्ठति–

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः।।

लोकतन्त्राधिकारं क्लेशाय दण्डाय चाधिकं मत्वा स तत्र अधिकारसुखं स्वल्पमेव मनुते–

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्।।

वैतालिकस्तं स्तौति—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।।

किञ्च—

नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्।।

कण्वाश्रमादागतानामृषीणां विषये दुष्यन्तश्चिन्तयति—

किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा—
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः।।

शाङ्र्गरवः दुष्यन्तमधिकृत्य कथयति—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै—
र्नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः

स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।

शाङ्र्गरवशारद्वतौ कथयतः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भाविष्यति।।

— इत्येवं राजनि दुष्यन्ते राजोचिताः मानवीयाः सर्वेऽपि गुणाः सर्वोच्चतया विराजन्ते। स लोकोत्थितां समस्यां सद्यः समादधाति। प्रजासु पारिवारिकीं व्यवस्थामुपपादयति। निःस्पृहो निरहंकारी धृतव्रतो जागरूकश्चास्ति। स्वसुखनिरभिलाषः प्रजाजनं सर्वतोऽपि सुखयितुं चेष्टते। विधर्मिणां नियमनेन विवादानां प्रशमनेन धर्मस्य संरक्षणेन च प्रजानां परमो बन्धुरस्ति। वन्यप्राणिनां लतापादपादीनां विषयेऽपि यथोचितं दायित्वं निर्वहति। विविधाभिः समृद्धिभिरपि निरुद्धतस्तिष्ठति। स्वभावादेव विनम्रः सद्धर्मरक्षापरः परोपकारी चास्ति।

तदेते सर्वेऽपि तद्गुणाः शकुन्तलाप्रत्याख्यानेन विगुणायन्ते। अन्यत्सर्वमपि विस्मृत्य तदा कण्वाश्रमे यामङ्कशायिनीमकरोत्, तामेव सर्वस्वभूतां तावदिदानीं विस्मरति। परिणयस्तु सम्पूर्णस्यापि जीवनस्य सर्वातिशायिनी घटना भवति। अन्यत्सर्वमपि विस्मर्तुं शक्यते, किन्तु स्वयं सर्वात्मना कृतः स्वकीयः प्रणयः कैश्चिदपि कथं विस्मर्तुं युज्यते? शाङ्र्गरवो दुष्यन्तमाक्षिपति—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतेऽवज्ञा।
मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु।।

ऐश्वर्यमदेन नैतदपितु शापेनेति पाठका विजानन्ति। किन्तु कोऽयं शापो नाम? शापः शाप इति यदुच्यते, न तेन शापविषयिणी जिज्ञासा शाम्यति। किं नाम विज्ञानमधिकृत्य शाप एवं प्रवर्तते? सापत्न्यं नाम तन्त्रमिति यदुक्तं विगतेऽङ्के, तत्र पत्नीबहुत्वे राज्ञामधिकारेण दाम्पत्यशापो न युज्यते। सापत्न्यसुलभोऽमर्षः शापाय काव्येष्वन्यत्र नावलोक्यते। लोके चैवंविधा

दाम्पत्यविस्मृतिर्नोपलभ्यते। कामं पारस्परिकं दोषजातमवलोक्य लोके प्रणयिनः परस्परमाक्षिपन्ति, प्रकाममितरेतरं परित्यजन्ति चापि, तथापि तयोर्मध्ये प्रणयविस्मृतिरेवंविधा क्वचिदपि नावलोक्यते। लोकाश्रयं च काव्यमुच्यते। कविश्चात्र कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः। लोके मूलमनिर्वर्ण्य कुतस्तेन तद्विधं काव्यं प्रतन्यते?

तत्र तत्त्वावलोकनपरैरुच्यते, न दाम्पत्यशापोऽयमवैज्ञानिको न च प्रणयविस्मृतिरेवैषा निर्मूलेति। दाम्पत्यशापस्य दाम्पत्यविस्मृतेश्च सार्वत्रिकत्वादपि शाकुन्तलादन्यत्र यत्तदनुल्लेखस्तत्र कालिदासः प्रशस्यते, न पुनर्दूषयितुं युज्यते। लोकस्य सर्वोऽपि दाम्पत्यविवादः कालिदासेनात्र निपुणमभिहितः। नान्यः कश्चिदपि कविरत्र विषये कालिदासं तुलयितुमर्हति। विचित्र एवायं शापक्रमः कालिदासेनोपस्थापितः। विचित्रा चेयं प्रणयविस्मृतिः कविकुलगुरुणा प्रस्तुतीकृता। या प्रत्यक्षं शापिता, सा शकुन्तला निजं प्रेमाणं प्रेमिणं वा न विस्मरति। यश्च सुदूरे सुपरोक्षे स्थितः, स दुष्यन्तो निजं प्रणयं निजां प्रणयिनीं च विस्मरति। शकुन्तला साक्षादेव शापं न स्वीकरोति। दुष्यन्तस्तत्र शापसन्धाने प्रयोजितो भवति। शकुन्तलाविषयकः शापः दुष्यन्तं द्वारीकृत्य प्रवर्तते। प्रणयभरिते भर्तरि दूरस्थे सत्यपि न तदीयां भोगभूमिं शापेन कश्चिदाक्रामति। शापे वा परितापे वा पतिरग्रे तिष्ठति। तेन तौ द्वावपि शापितौ भवतः। तत्र प्राथम्येन दुष्यन्त एव शापफलं भुनक्ति, शकुन्तला पश्चादिति सुस्पष्टम्। न केवलं पत्युः प्रत्याख्यानमेव पत्नीं दण्डयितुं भवति, पत्न्याः प्रणयं विस्मृत्य स्वयं पतिस्ततोऽप्यधिकं दण्डं भुनक्ति। तदेवं शापोऽयं दाम्पत्यशाप इत्युच्यते। तस्मिँश्च दाम्पत्यशापे सांसारिकः सर्वोऽपि वैषयिको दाम्पत्यविवादोऽन्तर्भवति।

वैषयिकः प्रणयविवादः कदा क्व वा नावलोक्यते। वैषयिकस्य प्रणयविवादस्य विषमं विगर्हितं स्वरूपमपि बहुधा बहुत्र विलोक्यते। दाम्पत्यकलहकारणवशादकस्मादेव कौटुम्बिकं स्वरूपं खण्डितं भवति।

दाम्पत्यविवादेन सामाजिकं बहुविधं दैन्यमुद्भवति। दाम्पत्यदोषेण शनैः शनैः सम्पूर्णं राष्ट्रमेव जर्जरं भवति। कालिदासस्तत्सर्वमवधार्य काव्यात्मकेन हितानुबन्धेन दाम्पत्यशापस्य प्रणयविस्मृतेश्चावधारणां प्रस्तौति। पूर्वं तथाभूतेन गान्धर्वविवाहेन धर्मारण्येऽपि कण्वाश्रमे कामस्यैकच्छत्रं साम्राज्यमुपस्थाप्येदानीं तदुत्थितदोषोपशमनं दाम्पत्यनिग्रहाख्येन धार्मिकेणैव व्यवस्थाविशेषेण प्रदर्श्यते।

दाम्पत्यशापो नाम दिव्यं एव परीक्षणात्मको व्यवस्थाविविशेषः। तेन दाम्पत्ये धर्माधर्मविवेकः संभवति। तत्र मिथ्यानिरसनपूर्वकं तथ्यावधारणं श्रूयते। दिव्यत्वादयं व्यवस्थाविशेषो लोके भावाभावात्मकः परिग्रहपरित्यागपरः स्मृतिविस्मृतिकरश्च द्वन्द्वस्वभावेनोभयात्मको भूत्वा प्रवर्तते। शापे सत्यपि सांसारिको जनस्तं शापं शापतया नावगच्छति। शापस्थापनं दम्पत्योर्मध्ये कुत्रापि परस्परं संभवति। प्रणयी जनः प्रणयं विस्मृत्यापि न सर्वथैव विस्मरति। कण्वाश्रमादागतां परिचयक्रमे विगतावगुण्ठनां शकुन्तलां निर्वर्ण्य दुष्यन्त आत्मगतं ब्रूते–

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यध्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नापि शक्नोमि मोक्तुम्।।

दुष्यन्तेन प्रत्याख्याता शकुन्तला "क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यत" इति यदा दुष्यन्तं भर्त्सयति, तदापि दुष्यन्तः सन्दिग्धबुद्धिर्भूत्वा शकुन्तलायास्तथ्योक्तिं स्वीयां विस्मृतिं चालक्ष्य स्वगतं ब्रूते–

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य।।

अङ्कान्ते प्रत्याख्यानान्ते च कथयति–

कामं प्रत्यादिष्टां न स्मरामि परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत् तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम्।।

बुद्धिर्विस्मरति हृदयञ्च प्रत्याययति। एवम्भूतायामवस्थायां कतमोऽपि व्यवहारः कथं प्रवर्तेत? दुष्यन्तः शकुन्तलां स्वीकर्तुमपि नार्हति, परिहर्तुमपि नार्हति। सर्वथैव संशयापन्नः स निजं पुरोहितं सोमरातं सन्दर्भेऽस्मिन् गुरुलाघवं पृच्छति–

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः।।

अभिज्ञानशाकुन्तलस्य नाटकस्यारम्भे यत्किमपि गान्धर्वादिकं वृत्तजातं तत्सर्वमपि तृतीयाङ्कानन्तरं द्विधाभूतेन स्रोतसा परिणतम्। दुर्वासास्तत्र शापेन दण्डविधिं प्रवर्तयति, कण्वश्चात्र तपसा संस्कारविधिं समर्थयति। एतदग्रे प्रश्नः समुदेति 'कश्चात्र विधिर्मान्यः कश्चामान्य'इति। विवादास्पदं वस्तु व्यवहारेणैव व्यवस्थापयितुं युज्यते। सोऽयं सुमहान् व्यवहारः पञ्चमाङ्के राज्ञो धर्मसंसदि समुपस्थापितो भवति। धर्मेण नयेन च व्यवहारं निर्णेतुं राजा स्वयमेवात्र प्रत्यावेदितो भवति।

अत्र न्यायविधौ व्यवहारस्थापने को वादी कश्च प्रतिवादी के चात्र साक्षिणः सन्तीति विचारस्तथापि प्रवर्तते। तत्र साक्षिणस्तु केऽपि न सन्तीति गौतम्याः निम्नांकितेन वचनेन सुतरां सिध्यति–

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न त्वयापि पृष्टो बन्धुः।
एकैकमस्मिन् चरिते भणामि किमेकमेकस्य।।

शकुन्तला पुनरत्र कमपि वादं नोपस्थापयति। सा तु गान्धर्वेण परिणीता पित्राऽभ्यनुज्ञाता पतिगृहमुपगता पत्युः प्रत्याख्यानेन परिपीडिता सक्रोधं स्वपतिं भर्त्सयन्ती सत्यपि कमपि वादं नोपस्थापयति। शकुन्तलया सहागताः ऋषयश्च केवलं कण्वसन्देशहारिणः सन्ति। तेऽत्र गुरोर्निदेशमनुष्ठाय प्रतिनिवर्तमानाः सन्तो राजानं कथयन्ति—

तदेषा भवतः पत्नी त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।।

तदेवं शकुन्तलया सहागताः ऋषयोऽप्यत्र वादिनो न भवन्ति। शकुन्तलाप्रभृतीनां वादित्वासंभवे दुष्यन्तस्य प्रतिवादित्वमपि न संभवति। दण्डविधिसमर्थको दुर्वासा यथात्र वादी भूत्वा नागतस्तथैव संस्कारविधिसमर्थकः कण्वोऽपि प्रतिवादी भूत्वा नोपस्थितो भवति। तदेवं वादिप्रतिवादिनोरभावे कतमो न्यायविधिरत्र प्रवर्तेत। न्यायश्चात्र नितान्तमावश्यकः प्रतीयते। राज्ञो गृहे चेदन्यायः प्रवर्तते, प्रजासु न्यायव्यवस्था कुत आगमिष्यति? तेन राजा दुष्यन्तः स्वयमेव पूर्वोक्तं सर्वमपि विवादविषयमादाय दिव्येन विधिना वादमुपस्थापयति। दिव्येऽपि वर्त्मनि बलभित्सखस्य दुष्यन्तस्य गतिरस्तीति न विस्मरणीयम्।

गान्धर्वादिकं कार्यजातमधिकृत्य दुर्वाससा यो दण्डविधिरुपपादितः, कण्वेन च तत्र यः संस्कारविधिरुपस्थापितस्तत्र क्रमे न्यायविधेरुपस्थापनं राज्ञो दुष्यन्तस्य दायित्वं भवति। न्यायेन रहिता राजनीतिर्विफला भवति। नयं विना राजधर्मो न प्रवर्तते। प्रकृते दण्डविधिर्वादरूपेण सुसम्पन्नोऽपि वादिना वादतया न्यायाधिकरणे नोपस्थाप्यते। संस्कारविधिः प्रतिवादरूपेण सुस्थितोऽपि प्रतिवादतया न्यायाधिकरणे नागच्छति।

तथाप्यत्र दुष्यन्तस्य न्यायाधिकरणे दण्डसंस्कारयोर्द्वयोरपि समन्वयो विधीयते। दुर्वासाः कण्वश्चेति द्वावपि साक्षात्कृतधर्माणौ आप्तपुरुषौ स्तः। तयोर्द्वयोरपि समादरो राजकीये व्यवहारे नूनमपेक्षते। तस्मादत्र पञ्चमाङ्के प्रवर्तमानो न्यायविधिः सदण्डं संस्कारमधिकृत्य प्रवर्तते। तत्र दुर्वाससा प्रयुक्तं दण्डं दुष्यन्तः स्वयं धारयते। कण्वेन प्रयुक्तस्तपोमयः संस्कारः शकुन्तलामभ्युपैति।

केचिदिह कथयन्ति यद् दुर्वाससः शापस्तु शकुन्तलां दण्डयितुं प्रवर्तते, दुष्यन्तश्च तत्र प्रणयं प्रत्याख्याय शकुन्तलादण्डविधाने सहायको भवतीति। तदिह व्यवहारशास्त्रानुसारेण नैव युज्यते। महाराजस्य दुष्यन्तस्य साम्राज्ये व्यवहारशास्त्रस्योल्लंघनं दुर्वाससापि न संभवति। व्यवहारशास्त्रानुसारेण सर्वात्मना स्वपतिं विचिन्तयन्ती शकुन्तला समागतं दुर्वाससं प्रति नूनमभियोजनपक्षतः प्रवर्तते। न चाभियोक्तरि दण्डविधानं व्यवहारशास्त्रानुमोदितं भवति। य एवाभियोगमुपस्थापयति, न हि स एव दण्डमर्हति। अभियुक्तस्तत्र दण्डभाग् भवति। अभियुक्तश्च शकुन्तलाभियोगे दुष्यन्त एव संभवति। अथवा शापेन शकुन्तलायै प्रयुक्तमपि दण्डविधानं दुष्यन्तो व्यवहारशास्त्रानुसारेण पत्न्याः पतित्वेन वा स्वात्मनि प्रवर्तयन् शकुन्तलायै तपोमयं संस्कारं प्रवर्तयते। अथवा सदण्डं संस्कारं तौ द्वावपि समानरूपेण संविभज्य धारयेते।

तदिदं सदण्डसंस्कारविधानं शाकुन्तले नाभिधया वृत्त्या प्रोच्यते। कालिदासो महता काव्यकौशलेन तत्सर्वं व्यञ्जयति। दुर्वाससो दिव्यप्रयोगेण यदसौ दुष्यन्तः प्रणयं प्रणयिनीं च विस्मृतवान्, तद्वशादस्य राजनीतिराध्यात्मिकेन दण्डविधानेन संयुता भवति। शकुन्तलाप्रत्याख्यानेन सर्वोऽपि जागतिकः प्रणयविवादः प्रतिपादितः। धर्मस्य दण्डतया प्रतिविधानादाधुनिकस्य दण्डबहुलस्य व्यवस्थाक्रमस्य धार्मिकं रहस्यमुद्घाटितम्। द्वितयेन स्रोतसा परिणतस्य पूर्ववृत्तस्य संकलनेनैव न्यायविधौ व्यवहारशास्त्रानुसारेण सदण्डः संस्कारः सुसाधितः। तेन दिव्यं यद्वस्तु तद् दुःखदं सदपि श्रेयस्करं भवतीति प्रमाणितम्।

अभिज्ञानं विना पुरः प्रस्तुतमपि निजाभीष्टं जनो वारयति। तत्तेदन्तावगाहि ज्ञानमभिज्ञानमिति कथ्यते। अभिज्ञानं विना ज्ञानमपूर्णं खण्डितं

वा तिष्ठति। खण्डितेन ज्ञानेन धर्मस्याचरणं दण्डाय परिणमते। खण्डितेन ज्ञानेन स्वस्य परस्य वा स्वरूपावगमः साधु न संपद्यते।

खण्डितमखण्डितं वा ज्ञानं लोके स्मृतिरूपमवलम्बते। जन्मजन्मान्तरीये वृते यथा स्मृतिरक्षुण्णा न तिष्ठति तथैव जीवनस्यैकभागेऽपि विस्मृतिर्विलोक्यते। तत्र सर्वत्र तदभिज्ञानमेव साधनीयं भवति। यदि चेदात्मस्मृतिरक्षुण्णा स्यादभिज्ञानमनपेक्षितं भवेत्। किन्तु क्षुण्णे स्मृतिपथेऽभिज्ञानं विना गतिर्न भवति। अभिज्ञानेनाभीष्टसिद्धिः सार्वदेशिकी सार्वकालिकी चाख्याता। अभिज्ञानस्याभावे दुष्यन्तः परिणीतपूर्वामपि शकुन्तलां परस्त्रीं मनुते। अभिज्ञानस्याभावे प्रतिबोधनमपि तत्र व्यर्थमेव भवति।

अभिज्ञानकं दुष्यन्तनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं शकुन्तलायाः कराङ्गुलौ हन्तेदानीं नास्ति। गौतमी कथयति "नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थे सलिलं वन्दमानाया प्रभ्रष्टमङ्गुलीयक"मिति। अत्र 'शक्रावतारे शचीतीर्थे' इति कथनं साभिप्रायं प्रतिभाति। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति श्रुतिः श्रूयते। पुरुवंशभवो भूपो दुष्यन्त इन्द्रसखा वर्तते। तेन शकुन्तलया शची सम्बध्नाति। शक्रावतारे शचीतीर्थे सलिलं वन्दमानायाः शकुन्तलायाः कराङ्गुलीतो यदङ्गुलीयकं प्रभ्रष्टम्, तत्र शचीप्रयुक्तं किमपि रहस्यं नूनमेवास्ति। शकुन्तला यद् गान्धर्वेण दुष्यन्तं परिणीतवती, तत्र गान्धर्वे संस्कारतया स्वयंवरस्य गुणधर्मौ सञ्चारयितुमेव मन्ये शची शचीतीर्थे स्वयमागतां शकुन्तलां तथात्वेन सन्निधापयति। दिव्यं प्रयुज्य कराङ्गुलीयकभ्रंशेन विघ्नमिवाचरन्ती सत्यपि शची स्वसन्निधानेन शकुन्तलाया गान्धर्वे स्वयंवरस्य संस्कारं निर्विघ्नमुत्पादयति। शच्याः सन्निधानेन स्वयंवरस्य निर्विघ्नतां स्वयमाह कालिदासो रघुवंशे इन्दुमतीस्वयंवरावसरे—

सान्निध्ययोगात् किल तत्र शच्याः
स्वयंवर — क्षोभकृतामभावः।

काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि
शशाम तेन क्षितिपाललोकः।।

शच्याः सन्निधानं विना स्वयंवरो न संभवतीति नैषधकारोऽप्याह–

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये
पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची।
स एव राजव्रजवैशसात् कुतः
परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयंवरः।।

यद्यपि स्वयंवरस्यायोजनेन शकुन्तलादुष्यन्तयोर्गान्धर्वो न सम्पन्नस्तथापि शकुन्तलायाः वर्त्मनि शचीसन्निधानात्तत्र गान्धर्वे स्वयंवरोचितगुणधर्मसञ्चारणेन वैवाहिकी सामाजिकता सम्पाद्यते। वैवाहिकः सम्बन्धो न वैयक्तिकोऽपितु सामाजिको भवति। निभृतं सम्पादिते गान्धर्वे सामाजिकताया अभावादपि मन्ये शापस्यावसरः समजनि। कण्वो यथा संस्कारधिया गान्धर्वं दैवेन ब्राह्मेण वा मिश्रयितुं प्रायतत, तथैवात्र शची अपि गान्धर्वे स्वयंवरत्वसंभावनया सामाजिकतामापादयति। तदर्थमङ्गुलीयकस्य तिरोधापनं किमर्थमावश्यकं भवतीति प्रश्नस्तथापि शिष्यते। तत्र मन्ये गान्धर्वे पूर्वोक्तमुनिजनोभयेन प्रवर्तितं व्यवस्थाद्वयमेकीकृत्य व्यवहारशास्त्रानुसारमत्रापि समाजावगाहे सदण्ड एव संस्कारः समर्थितो भवतीति।

वैवाहिकं कर्म न केवलं कामसन्तर्पणाय भवति। विवाहो नाम धार्मिकः संस्कारविशेष इति श्रूयते। तेन धर्मप्रवेशो विवाहेन संभवति। धर्मश्च समाजमधिकृत्य प्रवर्तते। तस्माद्विवाहे समाजो नोपेक्षणीयः। विवाहस्त्रिधा सम्बध्यते। विवाहो नाम वैयक्तिकः सम्बन्धोऽपि वर्तते, पारिवारिकः सम्बन्धोऽपि वर्तते, सामाजिकः सम्बन्धोऽपि वर्तते। पारिवारिकेण सामाजिकेन च सम्बन्धसाधनेन विना विवाहोऽव्यवस्थितस्तिष्ठति। अव्यवस्थितिश्चापत्यप्रयुक्ता

भवति। कामश्चपलो धर्मश्च सुस्थिरः कथ्यते। कामप्रयुक्तां चपलतां संयम्य सुस्थिरेण चेतसा विवाहो यज्यते। दुष्यन्तेन प्रत्याख्यातां पटान्तेन मुखमावृत्य रुदतीं शकुन्तलामवलोक्य शाङ्र्गरवः कथयति "इत्थमप्रतिहतं चापलं दहति" इति। फलश्रुतिरपि तत्र तन्मुखेनैवोच्यते–

अतः समीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्।।

समीक्षणं परीक्षणं वात्र समाजसमर्थनानुगतमिष्यते। समाजः सामान्यं व्यक्तिर्विशेष इति सामान्यविशेषभावव्यवहारे सामान्येनैव विशेषप्रतिपत्तिरुच्यते सुमेधोभिः। सामान्यमनवधार्य विशेषावधारणं न सम्भवति। सामाजिकेनानुबन्धेनैव वैयक्तिकः सम्बन्धविशेषः साधु सम्पद्यते। शरीरे हृदयमिव समाजेऽभिजनो वैशिष्ट्यमर्हति। सामाजिकतां विनैव विशेषभ्रमादेव परस्परं प्रगल्भितानां प्रणयातुराणां प्रीतिर्हार्दिकी न भवति। असामाजिकं सौहृदं कालेन विपद्यते।

किन्तु प्रकृते कामस्येदं विज्जृम्भणं कण्वस्य धर्मारण्ये सम्पन्नमिति न विस्मरणीयम्। सामाजिकेन हितानुबन्धेन विना कण्वाश्रमे किमपि न प्रवर्तते। दुर्वारोऽपि कामो धर्मेण नियम्यते। कामस्य सम्प्रधारणेन दमो गर्भीकृतः क्रियते। दशके धर्मलक्षणे दमस्यापि गणना भवति। 'निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते'। मनुः प्राह–

निक्षेपस्यापहर्त्तारं तत्समं दापयेद् दमम्।

शकुन्तलाया गर्भे योऽर्भकः, स सर्वदमनश्चक्रवर्तित्वेन सम्पत्स्यमान इदानीं गर्भस्थोऽपि पञ्चमे मासि प्राणानां सञ्चारक्रमेण सर्वप्रथमं स्वस्य मातापित्रोरेव धर्मानुकूलं दमनमुद्भावयतीति शाकुन्तलधर्मविज्ञानवेत्तारः प्रतिपादयन्ति।

भारतीयसंस्कृतौ लोकेन सह परलोकस्यापि मान्यता वर्तते। अस्माकं धर्मो लौकिकालौकिकयोर्वा भौतिकाध्यात्मिकयोर्वा समन्वयेन प्रवर्तते। न केवलं

लौकिकेन भौतिकेन वा प्रयासेन धार्मिकी व्यवस्था सम्पद्यते। धर्ममाचरितुं व्यवस्थामुपपादयितुं वा सर्वथा कृतप्रयत्नोऽपि दुष्यन्तः पारलौकिकीमाध्यात्मिकीं वाऽनुकूलतां विना कथमपि सफलतां नाधिगच्छति। शापव्यवहितस्मृतिरसौ परस्त्रीपरिग्रहं धर्मानुकूलमेव वारयते। किन्तु तस्येदं धर्माचरणं तस्यैव दण्डाय कल्पते। धर्मं संरक्षितुं तावदेष धर्मरक्षां विडम्बयति।

दिव्यं तन्त्रमुल्लंघ्य व्यावहारिकं व्यवस्थापनं न युज्यते। दिव्यं विधानं दिव्यमेव भवति। मानुष्यके व्यवहारे तस्य दुरुपयोगो न संभवति। मनुष्यः दिव्यविधानस्य परिपालने शक्तो भवति, किन्तु तत्र दिव्ये तस्याधिकारः कथमपि न प्रवर्तते। धर्मस्य रक्षायै दण्डं भोक्तुं युज्यते, किन्तु दिव्येऽधिकारं प्रदर्श्य मानवो देवता भवितुं नार्हति। मानवीया मर्यादा सर्वथैव परिपालनीया भवति। दुर्वाससा प्रयुक्तं दिव्यं प्रतिपालयन्नेव दुष्यन्तो धर्माचरणे दण्डभाग् भवति। तेन तत्र लोको परलोकेन संयुज्य प्रवर्तते। लोके पारलौकिकं दिव्यं वा संविधानं संगमय्य सतां दण्डभोगोऽपि परमार्थाय कल्पते।

आधुनिकभौतिकविज्ञानाद्धर्मविज्ञानस्य तावदयमेव भेदो वर्तते यदाधुनिका भौतिकविज्ञानिनः पारलौकिकीं सत्तां न स्वीकुर्वन्ति। मानवीयां मर्यादामुल्लंघ्य भौतिकेनैव सामर्थ्येन सार्वभौमिकं सुखमवतारयितुं प्रयतमानास्ते सार्वत्रिकं दुःखमेव प्रगुणयन्ति। धर्मविज्ञानिनश्चात्र भौतिकं बलं न बहु मन्यन्ते। भौतिकं बलमाध्यात्मिकेन सत्त्वेन नियम्यते। जागतिकं दिव्येन संयम्यते। ऐहिकमामुष्मिकेन संयुज्य धर्मं व्यवस्थापयति। सांसारिकी प्रगतिः पारलौकिकीं प्रमितिं विना पापाय भवति। धर्मविज्ञानं विना सुखबहुलमपि जगदिदं दुःखान्तमुच्यते।

पाश्चात्यनाट्यपरम्परानुसारेणाभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकमिदमिहैव पञ्चमाङ्के पर्यवसितं भवति। किन्तु प्राच्यपरम्परायां धर्मविज्ञानस्य सत्त्वादिदं शाकुन्तलं नाट्यविधानमितोऽप्यग्रे गत्वा सुखान्ततया पर्यवस्थितं विलोक्यते।

शकुन्तलां प्रत्याख्याय दुष्यन्तो न शान्तिमधिगच्छति। स स्वकीयं पुरोहितं सोमरातमत्र विषये कर्तव्याकर्तव्यं पृच्छति। पुराहितपरत्वेन चात्र धर्मस्य विज्ञानमेवान्विष्यते। पुरोहितो दैवज्ञानां प्रमाणवचनमुपन्यस्य धार्मिकीं व्यवस्थां ब्रूते–

"त्वं साधुनिमित्तकैरादिष्टः 'प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसी'ति। स चेन्मुनिदौहित्रः तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपगमनमवस्थितमेव।"

दुष्यन्तोऽपि 'यथा गुरुभ्यो रोचते' इति तद्वचनमङ्गीकरोति। तस्मादिह पुरुषार्थे भाग्यस्योपक्रमः समादृतः। तस्मादेव चात्र व्यवहारो दिव्यावदानेन सत्कृतः। दिव्यविधानवेत्तारो दैवज्ञाः लोकव्यवहारनिष्णातानामधिष्ठातारः संवृत्ताः।

किन्तु दैवज्ञवचनोपन्यासपूर्वकं राजगुरुणा या व्यवस्था प्रस्ताविता, सा शकुन्तलायाः गुरुभ्यो मन्ये न रोचते। किमर्थं केवलं शकुन्तलैव परीक्षणीया, दुष्यन्तोऽपि नूनमेवात्र परीक्षणीयो भवति। राजपुरोहितस्य गृहे प्रसवपर्यन्तं स्थित्वा केवलं शकुन्तलैव परीक्षणीया क्रियते। न चेदं स्त्रीजनसम्मानोचितं प्रतिभाति। दाम्पत्यव्यवहारे पुरुषोऽपि तावत् परीक्षणीयो भवति। तस्मादियं शकुन्तला स्वगुरुजनाभ्यनुज्ञाते स्थाने तावत्कालपर्यन्तं तिष्ठतु, यावदेष दुष्यन्तः स्वयमेव तत्र गत्वा स्वात्मानं परीक्षोत्तीर्णं न प्रमाणयति। तदेवं तत्र किमप्यद्भुतं संवृत्तम्। प्रत्याख्यानानन्तरं परीक्षणीयतया पुरोहितगृहगमनमार्गेऽप्सरस्तीर्थसमीपे क्रन्दनपरां शकुन्तलामुत्क्षिप्य ज्योतिरेकं नभोमार्गेण सुदूरं जगाम। पुराहितो दुष्यन्तं विज्ञापयति–

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं रोदितुं च प्रवृत्ता।

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारात्
उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम्।।

एकं स्त्रीसंस्थानं ज्योतिरप्सरस्तीर्थमारादेनामुच्क्षिप्य जगाम। अत्र स्त्रीसंस्थानत्वेनाप्सरस्तीर्थत्वेन दिव्यज्योतिःस्वरूपत्वेन च मेनकाद्याभिरप्सरोभिः शकुन्तलोड्डापनं प्रतीयते। षष्ठेऽङ्के शकुन्तलोड्डयनमधिकृत्य दुष्यन्तो विदूषकं प्रत्याह–

"कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि। तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति हृदयमाशंकते।"

अत्र तावदुच्यते। या मेनका सद्यः प्रसूतां शकुन्तलां निर्जने वने परित्यज्य स्वर्लोकमुत्पतति, सा किमर्थमिदानीमपमानितां तां सहचारिणीभिर्हारयिष्यति? मातुर्ममता तदानीं यदि नासीदिदानीं कुत आगता? कण्वस्तावदत्र कारणतया शंक्यते। यद्यपि शकुन्तलायाः प्रत्याख्यानकाले कण्वो हस्तिनापुरे नास्ति, तथापि धर्मारण्ये निजाश्रमे स्थितोऽसौ निजतपोमहिम्ना शकुन्तलागतं सर्वं विजानाति। सप्तमेऽङ्के भगवान् मारीचः कण्वस्य तामिमां सर्वज्ञतां प्रमाणयति। अदितिर्यदा शकुन्तलासौख्यसमाचारं कण्वाय प्रेषयितुं कश्यपमाह तदा कश्यपस्य प्रतिवचनमस्ति–

"तपः प्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः (कण्वस्य)।"

तपःप्रभावात्प्रत्यक्षमवलोकयतस्तस्य कण्वस्य प्रेरणयैव नूनं मेनका सहकारिणीभिरप्सरोभिर्दिव्येन विधिना शकुन्तलामुत्क्षिप्य नभोमार्गेण हेमकूटे मारीचाश्रमं प्रापयति। अयं हि मेनकया सह कण्वस्य धार्मिकोऽभिसन्धिरुच्यते। कण्वे पितृत्वस्य परिपूर्णतामवलोक्य मेनकायाः मातृत्वं जागर्ति। मेनकायां

मातृत्वं जागरयितुं कण्वः प्रथमं मारीचेन सहात्मनस्तादात्म्यं साधयतीति न विस्मरणीयम्। मारीचः 'कश्यप' इति कथ्यते, कण्वश्च 'काश्यप' इत्यभिधीयते। कण्वः कदाचित् साक्षादेव मातृत्वेन मेनकां प्रेरयितुं नार्हति। अत एव प्रथमं निजकुलपूर्वपुरुषेण सर्वेषामपि पितृभूतेन मारीचेन सह नैजं धार्मिकं तादात्म्यं साधयति, तदनन्तरञ्च मारीचस्यापि प्रभावेण मेनकां प्रभावयति।

अत्र मेनकायाः प्रसंगावतारणे भिन्नमप्येकं कारणं प्रतीयते। निजया मात्रा सर्वथैव परित्यक्तायाः शकुन्तलायाः स्वकीये मातृत्वसम्पादने धर्मो दुर्बलायते। विश्वामित्रस्यानुपस्थितावपि शकुन्तलायाः वैवाहिके कर्मणि कण्वस्तदनुरूपं कन्यापितृत्वं सर्वथैव निर्वहति। वन्यां प्रकृतिमेव चासौ कन्यायाः मातृत्वेन पुरस्कर्तुं चेष्टते। किन्तु तत्र व्यावहारिकी काचिदनुपपत्तिर्विलोक्यते। यदि प्रकृतिरेव माता भवति, तर्हि निसर्ग एव पितापि भवतु। तत्र क्रमे पितृत्वेन कण्वस्य कोऽवकाशः? अथ चेत्कण्वः कन्यायाः वैवाहिके कर्मकाण्डे पितृत्वं निर्वहति, मातृत्वं किं गौतम्या निर्वोढुं युज्यते? पितरि जीवति सति न हि माता स्वयमेव गत्वा परिणीतां पुत्रीं पतिगृहं प्रापयति।

तदेव कन्यापितृत्वं कन्यामातृत्वं चेत्युभयमपि धर्मेण व्यवस्थापयितुं व्यवहारशास्त्रानुसारेण च सम्भावयितुं शाकुन्तले मारीचाश्रमस्य प्रसंगावतरणं भवति। तत्र मातृत्वं पितृत्वं चेति द्वयमपि सर्वथैवोपपद्यते। कश्यपः सर्वपिता अदितिश्च दैतेयातिरिक्तत्वेन सर्वमाता निगद्यते। तत्र कश्यपे कण्वविश्वा–मित्रयोर्द्वयोरपि पितृत्वं संयुज्यते। शकुन्तलायाः माता मेनका तु तत्र भगवतीमदितिमुपचरन्ती तिष्ठत्येव। तदवोचददितिः स्वयं सप्तमेऽङ्के–

'दुहितृवत्सला मेनका इहैवोपचरन्ती तिष्ठति।'

एवंप्रकारेण शकुन्तलाप्रत्याख्यानेन पूर्वोक्तस्य शाकुन्तलीयधर्मविज्ञानस्य पुनरुत्थानमेव भवति। पाश्चात्यक्रमेण पर्यवसितमपि वस्तु प्राच्येन प्रक्रमेण

पुनरप्यग्रे सरति। प्रत्याख्यानं प्रतिष्ठायै परिणतं भवति। दुःखं तपश्चरणेन प्रशस्यते। स्त्रीजनस्यापमानो मातृशक्तिसंवर्धनाय परिणमते। अहो, दुष्यन्तस्य प्रत्यादेशो महते परिवर्तनाय प्रादुर्भवति। दुहितृनिर्ममा मेनका दुहितृवत्सला क्रियते। काश्यपः कश्यपेन संयुज्यते। कण्वाश्रमो मारीचाश्रमेण संगम्यते। ब्राह्मदैवविवाहयोरवशिष्टो विधिरपि कालेन परिपूर्यते। किन्तु हस्तिनापुरे शकुन्तलायास्तथाविधमन्तर्धापनमवलोक्य पुरवासिनश्चकितचकिताः परस्परं पृच्छन्ति किमेतदिति। दुष्यन्तः पुरोहितं कथयति–

"भगवन्, प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव।
किं वृथा तर्केणान्विष्यते। विश्राम्यतु भवान्।।"

चतुर्थाङ्के 'अर्थो हि कन्या परकीय एव' इत्युक्त्वा भगवता कण्वेन योऽर्थः परिग्रहीतुर्दुष्यन्तस्य कृते प्रेषितः, पञ्चमाङ्के दुष्यन्तेन स एवार्थः प्रत्यादिष्टः। किन्तु प्रत्यादेशानन्तरं यदभूत्तदतीव विस्मयावहं तर्कनापरं चास्ति। किन्तु तर्केण तदर्थान्वेषणं व्यर्थमुक्त्वा दुष्यन्तः पुरोहितं विश्रमितुमुपदिशति, स्वयञ्च पर्याकुलः शयनकक्षमुपसर्पति। भगवद्गीतायाः वचनमत्र स्मर्यते–

यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

दुष्यन्तो राजर्षिरस्ति। तद्वचनं निष्प्रयोजनं न प्रवर्तते। प्रस्तुते प्रसंगे यदुपनतं तद्वस्तुतस्तर्कातीतं विद्यते। तर्केण तदर्थानुसन्धानं नैव संभवति। तर्कोऽर्थवादरूपेण परिगण्यते। स च श्रुत्यर्थसाधकत्वात् प्रशस्तः, श्रुत्यर्थशून्य–त्वाच्चाप्रशस्तः। तर्कस्य स्वीया कापि प्रतिष्ठा नास्ति। मनुः प्राह–

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।।

शुष्कतर्कस्तु हेयः कथ्यते–

शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम्।

शुष्कतर्कस्यैव वृथात्वं दुष्यन्तेनोच्यते। तर्कनीतिर्धर्मनीतिश्चेति द्विविधा नीतिरिह लोके श्रूयते। तर्कप्रधाना नीतिस्तर्कनीतिः कथ्यते, धर्मप्रधाना च नीतिर्धर्मनीतिरभिधीयते। पाश्चात्यपरम्परा तर्कनीतिपरा भवति, पाच्यपरम्परा च धर्मनीतिपरा भवति। आधुनिके विश्वव्यापिनि भौतिकवादे तर्कनीतिरेव सर्वङ्कषा भवति। दुष्यन्तः कथयति 'किं वृथा तर्केणान्विष्यते' इति। तर्केण धर्मान्वेषणं न संभवति। तर्कप्रधानो यो हि धर्मः, स न धर्मोऽपितु दण्ड एव।

तर्कस्य कारणादेव दुष्यन्तः शकुन्तलां स्वीकर्तुं नाशक्नोत्। तस्य हृदयं तु सर्वथैव शकुन्तलापक्षपाति वर्तत इति तदीयस्वगतोक्तिभिः सुस्पष्टमस्ति। किन्तु लोकव्यवहारे प्रायशो बुद्धिर्बलवती भवति। विस्मरणबहुलापि बुद्धिस्तर्कबलेन हृदयमाच्छाद्य तिष्ठति। तर्कः स्वभावादेव कर्कशः। ऋषयोऽपि तर्कावलम्बनेन कर्कशतामाचरन्ति। दुष्यन्तेन प्रत्याख्याता निरवलम्बा शकुन्तला यदा गुरोर्निदेशं निर्वर्त्य कण्वाश्रमं प्रतिनिवर्तमानमृषिसंघमनुगच्छति, तदा शाङ्र्गरवस्तर्कस्य कारणादेव वराकीं शकुन्तलामतिनिष्ठुरं भर्त्सयति– 'आः पुरोभागे, किमिदं स्वातन्त्र्यमवलम्बसे' इति। अथ चासौ यथाकथञ्चिदाक्रोशं सन्नियम्य भयेन वेपमानां शकुन्तलां यदुपदिशति, तदपि तर्कावलम्बनेन कटुतरमेव–

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि, किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।।

शकुन्तला स्वयमपि तर्कमवलम्बते। सा स्वात्मानं स्वरूपतः परिचाययितुं मुखतो निजावगुण्ठनमपाकरोति। दुष्यन्तस्य शङ्कामपनेतुं स्वकराङ्गुलिस्थं तन्नामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं तस्मै दर्शयितुं व्यवस्यति। प्रणयं प्रत्याययितुं दीर्घापाङ्गजलपानवृत्तान्तं च स्मारयति।

प्रणयस्तर्केण नाग्रे सरति। सधर्माणः परस्परं प्रणयिनो भवन्ति। साप्तपदीनः सन्नपि प्रणयः सप्तजन्मार्जितं सम्बन्धमवधार्य प्रवर्तते। तथाविधे सहधर्माचरणे प्रत्यभिज्ञानमपेक्षते। तर्कस्तत्र 'व्यासङ्ग' इत्युच्यते। व्यासङ्गो व्याकुलतां जनयति। तर्केण यदन्विष्यते, तदनुभवेन न संवदति। तर्के जागरणाद्धर्मे शयनं श्रेयस्करम्। केनापि सत्यमुक्तम्–

जहन्नुम में जाइये या सबर कीजिए।
जहन्नुम में जाइये या ज़हर पीजिए।।

अथ षष्ठोऽङ्कः

शकुन्तलायाः कराङ्गुलीतो दुष्यन्तनामधेयाङ्कितं यदङ्गुलीयकं कण्वाश्रमाद् हस्तिनापुरागमनसमये मार्गस्थशक्रावतारे शचीतीर्थे जलस्पर्शक्षणे प्रभ्रष्टम्, तदेकेन रोहितमत्स्येन निगीर्णम्। स च मत्स्यः केनापि जालोपजीविना धीवरेण गृहीतः। गृहमागत्य यावदसौ तं मत्स्यं खण्डशः करोति, तावदेव तदुदराभ्यन्तरे रत्नप्रभाभासुरं तदङ्गुलीयकं पश्यति। तत्रोत्कीर्णे दुष्यन्तनामनि तावदनक्षरस्य तस्य धीवरस्य ध्यानमेव न गच्छति। अथ मत्स्योदरादुपलब्धे-ऽङ्गुलीयके स्वामित्वं तस्य सुस्थितमेव। किन्तु तदिदं बहुमूल्यमपि वस्तु मत्स्यजालोपजीविनां कस्मै प्रयोजनाय? निजाङ्गुलौ धारयित्वा कियान् शोभमानो भविष्यति? विक्रयेण पुनर्लब्धं धनं नूनमुपभोगाय भवितुमर्हति। तस्मादिदं विक्रेतुं नगरमुपगतो यावदेष कमप्यापणिकं दर्शयति, तावदेव चौर्यशङ्कया राजपुरुषैर्गृह्यते। राजा दुष्यन्तस्तदङ्गुलीयकं दृष्ट्वा शकुन्तलां स्मरति, प्रसन्नश्च धीवराय तदङ्गुलीयकमूल्यसम्मितं धनं दापयति।

निजामाजीविकामेव वर्तयन्नेष धीवरोऽभिज्ञानकारकस्याङ्गुलीय-कस्यागमे हेतुर्भूत्वा राजानं महदुपकरोति। तस्मादाजीविका लोके धर्मोपपन्ना कथ्यते। यस्य यत्कर्म परम्परया निर्धारितं तस्य तदेवाजीविका युज्यते। तथाभूतायामाजीविकायां सामाजिको धर्मः प्रतिफलति। न चैवंभूता जीविका निन्दनीया विवर्जनीया वा भवति। 'अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमी' ति धीवरस्य कथनं श्रुत्वा नागरकः श्यालः 'विशुद्ध इदानीमाजीवः' इत्युक्त्वा तस्याजीविकामुपहसति। तत्र धीवरस्य सटीकं प्रत्युत्तरमस्ति–

सहजं किल यद्विनिन्दितं नहि तत्कर्म विवर्जनीयकम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽप्यनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः।।

आजीवो धर्मादेव सम्पद्यते। तत्राजीवे निर्धारितं यत्कर्म तन्निन्दितं वा प्रशंसितं वा भवति चेद् भवतु नाम। निन्दया वा प्रशंसया वा कस्यापि कर्मणो हेयतोपादेयता वा न सिध्यति। उभयविधमपि तत्कर्म तत्राजीवे सहजं स्वाभाविकं चाभिधीयते। आजीविकान्तर्गतं निन्दितमपि कर्म विवर्जनीयं न भवति। निन्दितत्वाद् विवर्जिते तद्विधे कर्मणि सामाजिकी व्यवस्था विपद्यते। निन्द्यमपि कर्म समाजं सन्तुलयितुं क्वचिदावश्यकं भवति। दारुणमपि कर्म स्वधर्मानुगतं सदर्थतः सामाजिकीं व्यवस्थां पुष्णाति। वैदिके यागे हिंसाऽप्यहिंसायै भवति। मत्स्यहिंसां प्रकुर्वाणोऽपि धीवरो निजाजीविकायां धार्मिकमभिज्ञानं चेत्प्रतिपालयति, न तदाजीविका कथमप्युपहासाय भवति। अथवा परेषामुपहासेन धर्मधनो न निजामाजीविकां परित्यजति। पर्यन्तवेदिनोऽपि न कस्यापि विधिविहितां वृत्तिमुपहसन्ति। अङ्गुलीयकागमे दण्डनीयतया पाशैर्बद्धोऽपि धीवरो राजाज्ञया पुरस्कृतः। शूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः। मत्स्यजालोपजीवि–नामाजीविकामुपहासितपूर्वमिदानीं लज्जमानं राजश्यालकं विलोक्य धीवरस्तं प्रतिश्रुतिं पृच्छति–

भर्तः! कथय, कीदृशो मे आजीवः ?

धीवरस्तु राज्ञा पुरस्कृतः। धीवरस्य प्रतिग्रहीतारो राजपुरुषा न पुरस्कृताः। तेन ते नितान्तमेव खिन्नमनस्काः प्रतिभान्ति। तथापि ते पुरस्कारराशिं धीवराय निःशेषमर्पयन्ति। यदि ते तस्मै तद्राशिं कणशोऽपि नार्पयिष्यन्, न किमपि प्रतिकर्तुमेष वराकस्तत्र प्राभविष्यत्। पुरस्कृतं धीवरं मनसा द्विषन्तोऽपि राजश्यालकादयो न तस्य पुरस्काराशिमपहर्तुं पारयन्ति। योऽसौ धीवरो राजपुरुषैश्चौर्येणाशंक्य पाशैर्बद्धः, स एवेदानीं मुक्तः निजं पुरस्कारराशिं प्रति

राजपुरुषाणामेव मनःसु चौर्यभावं साक्षादवलोकयति। किं तावदत्र प्रतिविधेयम्? राज्ञा यदहं पुरस्कृतस्तदहमपि तावदेतान् लुब्धानपि लोभसंवरणपरान् निजेन पुरस्कारार्धेन पुरस्करोम्येवेति धीवरो राजश्यालकमाह–

भट्टारक ! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु।

अभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रथमाङ्के मृगयाव्यापारोऽथ चेह षष्ठाङ्के धीवरवृत्तान्तश्चेत्यनयोर्मध्ये कश्चिदनुबन्धो नूनमेवावभासते। तत्र मृगयाव्यापारेण यदन्विष्यते तदेवात्र धीवरवृत्तान्तेनापि पुनरन्विष्यते। अभिज्ञानक्रमस्य कारणादेवं भवति। तत्र मृगयाव्यापारेणोच्चलितो राजा कण्वाश्रमे शकुन्तलां संगम्यापि शापेन विस्मृत्य परकीयतया तां परित्यजति। इह धीवरवृत्तान्तेनाङ्गुलीयकागमेन च पुनस्तां स्वदारतया संस्मृत्य साभिज्ञानं तदर्थमुत्कण्ठते। अभिज्ञानं विना यल्लब्धं तदलब्धं भूत्वा पुनरभिज्ञानेन तदेव लब्धव्यं भवतीति प्रतीयते। तच्चाभिज्ञानं धर्मं विना न संभवति। धर्मस्य कारणादेव राज्ञाऽनुबद्धो धीवरः प्रत्यभिज्ञानकोपादाने प्रवर्तते। धर्मस्य कारणादेव राज्ञस्तावदाखेटकी वृत्तिरिह धीवरस्याजीविकायां प्राणिति। धर्म एव लोके पारस्परिकं धारणं परिपुष्णाति। पारस्परिकं धारणमेव चाभिज्ञानाय संपद्यते। यदस्मदीयं ज्ञानं तदेव धार्यधारकभावेन परतस्त्वेनापि सम्पद्यमानं स्वपरविवेकपूर्वकमभिज्ञानमित्युच्यते। अङ्गुलीयकागमो वा धीवरवृत्तान्तो वा तत्र धर्मविज्ञानेऽभिज्ञानक्रमे च प्रतीकतया कालिदासेनोपन्यस्त इति गुरुभिरुच्यते।

अङ्गुलीयकागमेन परिणीतपूर्वां शकुन्तलामभिज्ञाय दुष्यन्तो भृशं पश्चात्तापं व्रजति। राजकीयेषु कार्येषु विमनस्को भवति। वसन्तोत्सवं निषेधति। निषिद्धोत्सवं वसन्तं कञ्चुकिमुखेन कविर्वर्णयति–

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।

कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरः।।

शकुन्तलाविरहे तदीयं परितापं चोल्लिखति–

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्त–विवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्।।

प्रमदवनभूमौ माधवीलतामण्डपे विरहव्यथां विनोदयन्नसौ विदूषकं कथयति "सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवा–नस्मि भवते च। स भवान् प्रत्याख्यानकाले मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया संकीर्तितं तत्रभवत्याः नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्" इति। विदूषकस्तत्र प्रत्युत्तरति "न विस्मरामि। किन्तु सर्वं कथयित्वा अवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्" इति। तदिदं स्पष्टीकरणं शकुन्तलासंज्ञाने विदूषकस्य साक्ष्यम–पाकर्तुं कविना प्रयुक्तमिति केचिद्वदन्ति। अन्ये तावदत्र विस्मृतिप्रकारं पश्यन्ति।

विस्मरणस्य शतशः प्रकाराः सम्भवन्ति। दुष्यन्तस्य विस्मरणे विस्मरणात्मकं स्वरूपं सुरक्षितमस्ति। किन्तु विदूषकस्य विस्मरणे विस्मरणस्य स्वरूपमपि तिरोहितमस्ति। अत एव कथयति 'न विस्मरामी'ति। दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयिकां विस्मृतिं यथार्थतया विजानाति, किन्तु विदूषकस्तामेव विस्मृतिं यथार्थतया न जानाति। विदूषकस्य विस्मृतिर्मिथ्यात्वेनाच्छादिता वर्तते। तच्च विस्मृतेर्मिथ्यात्वं कुत आगच्छतीति विदूषकः स्वयमेवात्र प्रणयविषये दुष्यन्तस्य पूर्वोक्तं मिथ्यावचनं 'परिहासविजल्प एष न भूतार्थ' इति कारणीभूतं करोति। यन्मिथ्या तद्गतं

मिथ्यात्वमेव संस्मर्तुं विस्मर्तुं वा युज्यते। तेन 'न विस्मरामी'ति विदूषकवचनस्यार्थो भवति 'प्रणयस्य मिथ्यात्वं न विस्मरामी'ति। तदिदं दुष्यन्तविदूषकयोः कथनोप–कथनं भूतार्थविरहितेन परिहासविजल्पितेन पूर्वोपात्तधर्मेण चकास्ति। वस्तुगत्या विदूषकोऽपि शापान्तराले शकुन्तलाविषयकं किमपि न स्मरति। मिथ्यात्वेन चेत्स्मरति मिथ्यात्वेनैव किमर्थ न स्मारयति। प्रणयो नाम भवतु परिहासविजल्पो मिथ्यात्मकश्च, किन्तु प्रणयसम्बन्धि यत्प्रकरणं तत्कथं न स्मारयति? अथाप्यधुना 'न विस्मरामी'ति यद्वदति तेन प्रतीयते यदसौ शकुन्तलाविषयिकां निजां विस्मृतिं नैव विजानातीति।

वस्तुतो दुष्यन्तस्य विस्मरणकारणाद् विदूषकादयोऽपि प्रकारान्तरेण विस्मरन्तीति प्रतीयते। अन्यथा सारथिरपि दुष्यन्तस्य कण्वाश्रमगमनं जानाति। सैनिका अपि कण्वाश्रमोपरोधे साक्षिणो भवन्ति। मातरोऽपि मन्ये विजानन्ति। मातृभिः प्रेषितः करभकस्तत्र दुष्यन्तमानेतुं गतवानासीत्। कथं न कश्चिदपि तत्सर्व चर्चाविषयं करोति। चर्चयैव स्मृतिश्चरितार्था प्रमाणिता च भवति। सत्यवसरेऽपि चर्चाया अभावो विस्मृतिमेव प्रमाणयति। सा चेयं शाकुन्तलीया विस्मृतिर्नैकदेशीया, अपितु साङ्गा सावयवा बहुषु बहुलीभावमुपगता यथायथं प्रकारान्तरेण प्रकृतिष्वपि नूनमेव प्रकाशते।

दुष्यन्तस्तदा शकुन्तलाप्रत्याख्यानकाले शकुन्तलाविषयकं सर्वमपि विस्मरति, अधुना पुनरभिज्ञाने सम्पद्यमाने सति सर्वमपि स्मरति। प्रत्याख्यानकाले केवलं प्रणयमेव स न निषेधति, परिचयमपि सर्वथैव निराकरोति। 'मृगयाक्रमेण कण्वाश्रमं गत्वापि शकुन्तलां मिलित्वापि तां स्वपत्नीं नाकरोम्' इत्यसौ कदापि न वदति। सम्पूर्ण प्रकरणमेव विस्मरति। अभिज्ञानेन चाधुना तत्सर्वं संस्मृत्य भृशं तपति। तदा विस्मृतिकाले शकुन्तलाप्रत्याख्यानपरं यत्किमपि धर्म इति विहितम्, तत्सर्वमिदानीं दण्डतया स्वस्मिन्नेव परिपतितं विलोक्य

बलवदशरणो भवति। शकुन्तलायाः प्रत्याख्यानं स्मारं स्मारं मर्मान्तकं दुःखमनुभवति। तदाह तामधिकृत्य विदूषकं प्रति–

इतः प्रत्यादिष्टा स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहति माम्।।

न जाने शकुन्तलायाः किमभवत्? सा केनाप्याकाशचारिणा हृता। किन्तु येन केनाप्याकाशचारिणा सा पतिव्रता स्प्रष्टुमपि न शक्यते। मेनका तदीया माता। तत्सहचारिणीभिरेषा हृता स्यादिति दुष्यन्त आशङ्कते। यद्येवम्, कालेन समागमः सम्भवति। न मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयिष्यत इति विदूषकस्तं समाश्वासयति। किन्तु दुष्यन्तः शकुन्तलायाः पुनरागमं न विश्वसिति। स स्वकीयं भाग्यं तदनुकूलं न मनुते। तद्विषयकान् निजान् मनोरथाँश्च तटप्रपातान् कथयति। तथापि तद्विषये मुहुश्चिन्तयति। सा शकुन्तला महतां पुण्यानामखण्डं फलमेवासीत्। इदानीं तानि पुण्यानि क्षीणानि। इदानीं तु सा स्वप्न इव मायेव मतिभ्रम इव प्रतीयते।

विदूषकस्तं भाग्यविधुरिताननं दुष्यन्तं तावदपरेण तर्केण पुनराश्वासयति। अङ्गुलीयकागमं निदर्शनतया तावदुपस्थापयति। यथाङ्गुलीयकं लब्धम्, तथैव शकुन्तलापि लब्धा भविष्यति। इदमङ्गुलीयकं मिलिष्यतीति को जानाति स्म? तथैव कदाचिदकस्मादेव शकुन्तलापि मिलिष्यति। किन्तु दुष्यन्तस्तदेतदपि न विश्वसिति। अङ्गुलीयकं कातरेण चक्षुषा विलोकयति। यदङ्गुलीयकं शकुन्तलायाः कराङ्गुलीतो वियुज्य स्वयमेव शोचनीयमस्ति, तत्कथं मां शकुन्तलया मेलयिष्यतीति न जाने। अङ्गुलीयकप्रसंगेन दुष्यन्तस्याक्ष्णोः पुरः कण्वाश्रमस्यैकं मार्मिकं दृश्यमाविर्भवति। गान्धर्वविवाहानन्तरं स्वनगराय

प्रस्थितं दुष्यन्तमवलोक्य शकुन्तला सवाष्पमाह 'कियच्चिरेण आर्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यती'ति। तदा स्वनामधेयाङ्कितमेतदङ्गुलीयकं तत्कराङ्गुलौ विनिवेशयता दुष्यन्तेनोक्तमासीत्–

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।
तावत् प्रिये मदवरोधनिदेशवर्ती
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति।।

तदिदं प्रतिज्ञातमपि न प्रतिपालितमिति हृदयव्रणं करोति। अकारणेन प्रत्याख्यानेन तु सर्वथैव दग्धं दुष्यन्तस्य हृदयमवलोक्यते। केन हृदयेन शकुन्तलां संकलयितुं प्रभवेदेष जनः? तथापि स्वभावनिश्छलायाः शकुन्तलाया अर्धलिखितं चित्रमवलोक्य कथयति–

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्।।

शकुन्तला कदाचिदत्र चित्रे स्वयमागत्य निजानुकम्पया पुनर्दर्शनेन मृतप्रायं मां पुनरुज्जीवयेदिति कामनया दुष्यन्तस्तदनुरूपं तदीयं स्वरूपमालिखितुं सर्वात्मना प्रयतते। पुनः पुनरर्पितेन भावप्रवणेन रेखाप्रकारेण सोऽयं स्वयमेव स्वात्मानमाश्वासयति 'रेखया किञ्चिदन्वितम्'इति। सम्पूर्णं सौन्दर्यमाविर्भावयितुं तथापि तावदत्र बहु कर्तव्यमवशिष्यते–

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।।

प्रकृतिप्रसूता प्रकृतिभिरेव च परिपालिता शकुन्तला कृत्रिमां कलां नार्हति। निसर्गकन्या निसर्गेणैव सप्राणा भवति। नैसर्गिकोपादानविनिर्मितायास्तस्याः प्रसाधनमपि नैसर्गिकमेव युज्यते। अत्र चित्रे तदपि तावदिदानीमवशिष्यते–

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।।

चित्रे मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः प्रशस्यते। विदूषकस्य दृष्टिस्तत्र निम्नोन्नतप्रदेशेषु स्खलतीव। आः, एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्याः शकुन्तलाया वदनमभिलङ्घति मधुकरः। ननु वार्यतामेष धृष्टः। वारितापि वामैषा जातिर्न राज्ञोऽनुशासने तिष्ठति। श्रूयतां तर्हि सम्प्रति–

अक्लिष्ट–बालतरुपल्लव–लोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं दशसि चेद् भ्रमर प्रियाया–
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्।।

किन्तु हन्त, शकुन्तलायाश्चित्रमिदम्, न स्वयं शकुन्तलेति दुष्यन्तस्य नेत्रयोरश्रुधारा प्रवर्तते। वर्तिकाकरण्डकमानेतुं गतवत्याश्चतुरिकायाः मुखाद् बहुमानगर्वितायाः देव्याः वसुमत्याः आगमनं श्रुत्वा भयेन विदूषकश्चित्रफलकं निगूहयितुं निकटस्थे मेघच्छन्ने प्रासादे पलायितः। किन्तु राजकार्यविषयकं तावदमात्यपत्रमादाय तदानीमेव तत्र समागता प्रतीहारी कथयति यत्पत्रहस्तां मामवलोक्य देवी प्रतिनिवृत्तेति। श्रुत्वा दुष्यन्तेनोक्तम्–

"कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।"

एतावन्मात्रं प्रधानदेवीविषयकं वचनमत्र नाटकेऽवलोक्यते। सम्पूर्णेऽपि नाटके न क्वापि वसुमती मञ्चमारोहति। अत्रापि चतुरिकाहस्ताद् वर्तिकामाच्छिद्य सकोपं प्रवेष्टुं प्रवर्तमानापि राजकीयपत्रप्रापणेन राजानं राजकार्यानुषक्तमभिज्ञाय प्रतिनिवर्तते। सा कार्यज्ञा भर्तुः कार्योपरोधं न करोतीति कथनं सम्पूर्णस्यापि नाटकस्य प्रसंगे परामीक्षिकामर्हतीति दृढं मन्ये।

शकुन्तलाविरहज्वालावलीढः सन्नपि दुष्यन्तो न राजकार्यं सर्वथैव यदुपेक्षते, तदेतस्य राजर्षित्वे प्रमापकं भवति। पत्रारूढं पौरकार्यमनुवाच्य सः कथयति–"कथम्, समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्। ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। (अथवा) किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति–

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।।"

स एष साम्प्रतिको मानवधर्म इत्युच्यते। निजेनैव कर्मणा कष्टमापन्नो जनः पश्चात्तापेन यन्निखिलस्यापि जगतस्तथाविधं कष्टं दूरीकर्तुं वाञ्छति, तत्तस्य धार्मिकतायाः परिचायकं भवति। यश्च स्वयं कष्टमुपगतः परेभ्योऽपि तथाविधं कष्टमिच्छति स इह नूनमधार्मिको भवति। सर्वास्ववस्थासु दुष्यन्तस्य स्वयं पौरकार्यावेक्षणं राज्ञोऽतिथेः पद्यमिदं रघुवंशगतं स्मारयति–

स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम्।
ददर्श संशयच्छेद्यान् व्यवहारानतन्द्रितः।।

मृतस्य महाजनस्य तावदनपत्यतया मन्त्रिणा घोषितस्यापि धनं दुष्यन्तो राजकोषगामि नानुमन्यते। आपन्नसत्त्वां निवृत्तपुंसवनां तदीयां जायां स्वयमन्विष्य

गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हतीति धर्मशास्त्रीयां विशिष्टां व्यवस्थां तत्रोपपादयति। न चैतावता विरमति। धर्मस्योदारतां पुरस्कृत्य महाजनपरिवारस्य सुरक्षायाः स्वकीयं दायित्वमपि सडिण्डिमं घोषयति।

किन्तु स एष राजा दुष्यन्तः स्वयमनपत्यो वर्तते। अस्यापि जाया तत्रभवती शकुन्तला सगर्भा आसीत्। तामसौ विस्मृतिवशात् परकीयेति परित्यक्तवान्। सा नभोमार्गेण कयापि शक्त्या न जाने क्व नीता। मृतस्य सार्थवाहस्य सगर्भा जाया तावदन्वेषिता। स्वकीया जाया कथमन्विष्येत? मम मृत्योरनन्तरं किं भविष्यतीति विचिन्त्य दुष्यन्तस्योद्वेगो भृशं वर्धते। निम्नांकितं व्यथावाक्यमुक्त्वा स मूर्छितो भवति–

अस्मात् परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुसेकमुदकं पितरः पिबन्ति।।

मेनकायाः सहकारिणी सानुमती (मिश्रकेशी वा)तदेतत्सर्वमपि वृत्तं प्रच्छन्नतया साक्षादवलोकयति। हस्तिनापुरे अप्सरस्तीर्थे साधुजनाभिषेककाले मेनकया नियुक्ता तत्रत्यं नियोगं निर्वर्त्य सख्यै शकुन्तलायै तत्सम्बन्धि प्रियवृत्तमाहर्तुं सा दुष्यन्तस्य प्रमदवनं प्रविश्य षष्ठाङ्कगतं सर्वमपि वृत्तान्तमवगतं करोति। सेदानीं मारीचाश्रमे सपुत्रां शकुन्तलां राज्ञे विज्ञाप्य तं निरस्तमोहं विगतशोकं च कर्तुं शक्नोति। किन्तु श्रुतमस्ति तया महेन्द्रजनन्याः अदितेर्मुखाद् "यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यदचिरेण धर्मपत्नीं शकुन्तलां भर्ता दुष्यन्तोऽभिनन्दिष्यती"ति। तस्मादियं दुष्यन्तं मूर्छितमेव संत्यज्य प्रियसखीं वृत्तान्तमवगमयितुं नभोमार्गेणोद्गच्छति।

मेघच्छन्ने प्रासादे विदूषकस्यार्तस्वरेण दुष्यन्तस्य मूर्छा भज्यते। चित्रफलकं निगूहयितुं तत्र गतो विदूषकस्तत्रत्येन केनाप्यदृष्टरूपेण सत्त्वेन

(प्रेतेन) बलादाक्रम्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः। तदसौ परित्राणाय दुष्यन्तमाह्वयति। श्रुत्वा दुष्यन्तश्चिन्तयति–'कथं ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाणि। यदि निजं गृहमेव सुरक्षितं कर्तुमहं न प्रभवामि, प्रजासु कियतीं सुरक्षां सम्पादयितुं शक्ष्यामि?'

स चैष प्रश्नः सार्थवाहवृत्तान्तमप्यधिकृत्य दुष्यन्तस्य मस्तिष्कमाविशति। सार्थवाहवृत्तान्ते दुष्यन्तस्य संवेदना परां काष्ठामुपैतीति पूर्वोक्तम्। तद्गतं व्यवस्थापयितुं प्रवर्तमानो दुष्यन्तो निजां ततोऽप्यधिकतरां दुरवस्थामवलोक्य मूर्छितो भवति। मूर्छानन्तरं दुष्टसत्त्वेन परिगृहीतं विदूषकं श्रुत्वा स पुनरपि विचलितो भवति। कथयति च–

अहन्यहन्यात्मन एव तावद्
ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयाती–
त्यशेषतः को नु विदाङ्करोतु।।

प्रमादवशादेव प्रत्याख्याता शकुन्तला नभोमार्गेण व्यपगता। प्रमादवशादेव गृहमद्य दुष्टसत्त्वैरभिभूयते। एतस्यामवस्थायां सार्थवाहवृत्तान्तमधिकृत्य प्रजागतं स्निग्धबन्धुवियोगप्रतिपूरकं यदुद्घोषितं तत्कियदौचित्यमर्हति? सगर्भां जायां परित्यज्य मृतस्य सार्थवाहस्य परिपूर्तिस्तत्परिवारे केन प्रकारेण संभवति? स्वयं स्निग्धबन्धुवियोगे परिपतितो जनः केनोपायेन परेषां स्निग्धबन्धुवियोगानलं शमयितुमर्हति? यस्य गृहं स्वयं दुष्टसत्त्वेनाभिभूतम्, स किंविधेन निजेन सत्त्वेन परगेहगतं व्यवस्थापनं घोषयितुमर्हति? तथापि पश्चात्तापपूर्विका धार्मिकी भावना फलवती भवति।

अङ्गुलीयकागमेनारभ्य विदूषकाभिभवपर्यन्तं दुष्यन्तस्य शकुन्तलाविषयकः पश्चात्ताप एव परिपाकमर्हति। सार्थवाहवृत्तान्ते पुनस्तदीया धर्मपरा

समुदारा प्रवृत्तिराविर्भवति। तत्र कविः "धर्मो रक्षति रक्षितः" इति प्रसिद्धं धर्मवाक्यं तथात्वेन व्यञ्जयितुं प्रक्रमते, येन दुष्यन्तस्याग्रेतनं संशयास्पदमपि वृत्तं वैज्ञानिकेन विधिना महते पुरुषार्थाय परिणमते। इन्द्रस्योपक्रमेण तदेतदचिन्त्योपनतं सुसम्पद्यते।

यो हि दुष्यन्तः शकुन्तलाविरहवैक्लव्यमुपगतः "सखे, परित्रायस्व माम्।.. बलवदशरणोऽस्मि।.. धिङ् मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।... अहो, दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः।" इत्यादिरूपेण नितान्तमसहायो दुरन्तदुःखमनुभवति, स एवेदानीं सुराधिपतेरिन्द्रस्य सहयोगाय कल्पते। इन्द्रसखो दुष्यन्तस्तेन सख्यभावेन सहयोगाय तावदाहूतः।

अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः। इन्द्रस्तं रणे हन्तुं नार्हति। स इदानीं दुर्जयवधानुरूपं दुष्यन्तस्य रणकौशलं स्मरति। तस्मै प्रयोजनाय दुष्यन्तं निनीषुरिन्द्रसारथिर्मातलिः स्वयमैन्द्रं रथमादाय हस्तिनापुरमागतः। किन्तु शकुन्तलाविरहवैक्लव्येन दुष्यन्तस्य मनोदशां वीरभावानुकूलामनवलोक्य वीरभावोद्दीपनक्रमे तं कोपयितुं मेघच्छन्ने प्रासादे वराकं विदूषकं सत्त्वेनाक्रम्य तिष्ठति। अदृश्यरूपेणापि केनापि सत्त्वेनाक्रान्तो विदूषकः स्वरक्षार्थं दुष्यन्तमाक्रन्दति। दुष्यन्तस्य पूर्वोक्तं सर्वमपि वैक्लव्यं वर्णभेदेन विदूषकमाविशति। तद्रक्षायै क्षात्रेण तेजसा प्रज्वलित इव दुष्यन्तो मेघच्छन्नं प्रासादमासाद्य यावदेव निजास्त्रं संधत्ते तावदेव विदूषकमुत्सृज्य प्रत्यक्षमागतो मातलिरिन्द्रसन्देशं तस्मै प्रयच्छति। अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तमिति दुष्यन्तेन पृष्टो मातलिर्वदति—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः।।

अथ सप्तमोऽङ्कः

ऐन्द्रं रथमारुह्य दिवमुत्पतितो राजा दुष्यन्तो युधि दुर्जयं नाम दानवगणं जघान। इन्द्रस्तं हन्तुमसमर्थ आसीत्। तदुक्तं तत्र षष्ठाङ्के दुष्यन्तं प्रति मातलिना—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य—
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेतुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिः
तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः।।

दुर्जयः कालनेमिप्रसूतिः कथ्यते। एतदधिकं नैतद्विषये कविर्लिखति। दुर्जय इति नाम्ना तस्य दुर्दान्तता दुर्जेयता चाभिधीयते। तं जेतुं स्वयमशक्त इन्द्रो दुष्यन्तं सहायकतया स्मरति। तन्नूनमेव दुष्यन्तस्य रणकौशलं दुर्जयदैत्य—वधानुगुणं प्रतीयते। दुष्यन्तस्य तदेव रणकौशलं मन्ये तत्र षष्ठाङ्के मातलिप्रसंगे कविर्व्यनक्ति। अदृष्टसत्त्वेन बलादाक्रान्तं विदूषकं परित्रातुं दुष्यन्तस्तत्र गत्वा किमपि न पश्यति। विदूषकमाक्रम्य स्थितो मातलिर्न केवलं स्वयमलक्षित—स्तिष्ठति, विदूषकमति तावदलक्षितं करोति। दुष्यन्त आक्रान्तारं मातलिं यथा न पश्यति तथैव तेनाक्रान्तं विदूषकमपि न पश्यति। अलक्षितयोस्तयोर्मध्ये पुनरेको रक्ष्यश्चैकश्च वध्य इति विषमा स्थितिः। अलक्षिते व्यामिश्रे च लक्ष्ये कथमस्त्रसन्धानं सम्भवति? किन्तु दुष्यन्तस्य शस्त्रसन्धानं तत्रापि विजृम्भते। तस्य शस्त्रमलक्षितमपि लक्ष्यमाबध्नाति। तस्यास्त्रसन्धानं लक्ष्यगतं व्यामिश्रणमपि विविच्य प्रवर्तते। तदाह तत्र तदनुरूपबाणसन्धाता दुष्यन्तः—

"भोस्तिरस्करिणीगर्वित, मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति।

एष तमिषुं सन्दधे—

> **यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।**
> **हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः।।"**

इदं यत्तत्र षष्ठाङ्के प्रतिपादितम्, तेन दुर्जयस्य मायाबलं दुष्यन्तस्य रणकौशलं चेति द्वयमपि स्वयमेव प्रतिपादितं भवति।

कालनेमिप्रसूतित्वाद् दुर्जयोऽपि मन्ये काले विकारमुत्पाद्य प्रजासर्गं परिपीडयति। कालस्य कर्ता सूर्यो वर्तते। सूर्यस्य किरणा यत्र यथा परिपाकमुपयान्ति, तत्र तथा सृष्टिर्भवति। सूर्यस्य किरणेषु प्रकाशकतामधिकृत्य देवाः सृष्टिक्रमे यथायथं प्रकाशन्ते। दानवास्तां प्रकाशकतामाच्छाद्य बहुविधेना—न्धकारेण सृष्टौ वैरूप्यमुत्पादयन्ति। दुर्जयो नाम दानवगणस्तु सूर्यकिरणेषु विजातीयतयापि बलादेव संश्लिष्य सृष्टिस्वरूपं विपर्यस्तं करोति। दुष्यन्तस्तं गोसर्गसमये पूर्वोक्तेनैव रणकौशलेन हत्वा देवपथं प्रशस्तमकरोत्।

इन्द्रो यत्कर्तुमशक्तस्तदेव दुष्यन्तः कथमकरोदिति प्रश्ने दुष्यन्तस्य ऋषित्वमेव कारणतया विलोकयामहे। अतुलितबलशाली सन्नपि स इन्द्रः ऋषिर्नास्ति। दुष्यन्तो राजर्षिरस्ति। देवराजोऽपि यत्कर्तुं नार्हति, तदमुना राजर्षिणा कर्तुं युज्यते। ऋषिरेव व्यामिश्रं विविच्य संश्लिष्टं च विश्लिष्य व्यामोहमपोहति। दुष्यन्ते स एव ऋषेर्गुणो भूम्ना वर्तते। तदीयं चरितमपि कविना तथात्वेनोपस्थापितम्। सांसारिकैर्विरोधिभिर्भावैर्व्यामिश्रमपि तदीयं जीवनं परमार्थे विविक्तमवलोक्यते।

दानवा न केवलं देवलोकं पीडयन्ति, मानवलोकमपि समानेन पदा परिपीडयन्ति। दुर्जयस्योपद्रवेण न केवलमिन्द्रश्चेखिद्यते, दुष्यन्तोऽपि तेन नूनं क्लिश्यते। दुष्यन्ते लम्पटताया मिथ्यावादितायाश्च यद्दोषो दीयते, तत्र दुर्जयस्य दानवीयं दुश्चेष्टितमेव प्रतिफलति। शकुन्तलया सह तस्य गान्धर्वविवाहो

यद्राक्षसविवाहस्य गुणधर्ममपि स्पृशति, तत्रापि तदेव कारणमस्ति। शकुन्तलाया विस्मरणे प्रत्याख्याने चापि दानवोत्था हेतुता प्रतीयते। दुष्यन्तस्तावत्पर्यन्तं निजोद्योगे विघ्नित एव तिष्ठति, यावदमुं दुर्दान्तं दानवं न हन्ति।

आपाततोऽभिज्ञानशाकुन्तले दुर्जयस्य प्रसंगः प्रसंगान्तर इवावभासते। किन्तु वस्तुतस्तथा नास्ति। प्रत्याख्याता शकुन्तला नभोमार्गेण केनाप्याकाश–चारिणा क्वचिदुन्नीता। अङ्गुलीयकागमेन च सा स्वदारतया दुष्यन्तेनाभिज्ञाता। अथेदानीं तदन्वेषणक्रमे नभोमार्गाश्रयणं दुष्यन्तस्य कृते नूनमावश्यकं प्रतिभाति। नभोमार्गेण प्रस्थितामनुगन्तुं नभोमार्गाश्रयणं सुतरामपेक्षते। यथा शकुन्तला स्वयमेव नभोमार्गेण न प्रयाता, तथा दुष्यन्तोऽपि स्वयं नभोमार्गं नारोहति। तत्र शकुन्तलां मेनकायाः सहकारिण्यो नयन्ति, अत्र दुष्यन्तं मातलिर्नयति। शकुन्तला यथा देवाङ्गनाभिर्मेनकादिभिरधुना साक्षादेव सम्बद्धा, तथैव दुष्यन्तोऽपि देवाधिपतिना साक्षादधुना सम्बद्ध्यते। मर्त्यलोकेन सह देवलोकेनापि तयोरुभयोरिदानीं सम्बन्धः सुसम्पन्नः। अथ तपसा प्रवर्तमाना शकुन्तला तत्र पातिव्रत्यं नाम स्त्रीधर्मं सर्वतोभावेन यस्मादात्मसात्करोति, तस्मादत्र दुष्यन्तो निजौजसा दुर्जयं नाम दानवगणं निहन्ति। तदेवं दुर्जयविजयप्रसंगः शकुन्तलादुष्यन्तयोरितिवृतेन सर्वथा सुसम्बद्ध एवास्ति।

दुष्यन्तस्य मानुष्यके समुद्योगे ऋषीणामवदानेन सहैव देवानामवदानमपि प्रतिफलति। देवाधिपतिरिन्द्रो यद्यपि दुर्जयविजयपरं निजाभिमतं पूरयितुं दुष्यन्तमामन्त्रयते, तथापि तेन देवाभिमतेन दुष्यन्तस्याभिमतमपि स्वयमेव परिपूर्णं भवति। दुर्जयं निहत्य मघवता सत्कृतो राजा दुष्यन्तः प्रत्यागमनकाले मार्गस्थे मारीचाश्रमे सपुत्रां शकुन्तलामभ्युपैति। तदिदं दिव्यावदानं शाकुन्तले कथावस्तुनि विलक्षणमेव सौन्दर्यमावहति। मर्त्ये कण्वाश्रमे प्रारब्धः प्रणयो दिव्यकल्पे मारीचाश्रमे सम्पन्नतां याति।

शकुन्तलायाः प्रत्याख्यानमसहमाना तदीया माता मेनका निजाभिः सहकारिणीभिरप्सरोभिस्तां गगनपथेनोड्डाप्य किंपुरुषवर्षे हेमकूटे मारीचाश्रमे स्थापयति। किमर्थं नान्यत्र नीत्वा मारीचाश्रमे शकुन्तलां नयतीति कण्वस्याभिसन्धिरत्र विषये गताङ्के तावदभिहितः। तर्हि कण्वाश्रमे एव कुतो नानीयते सेति प्रश्नस्तथापि शिष्यते। मेनकाया दिव्याङ्गनात्वं मारीचाश्रमस्य दिव्याश्रमत्वं चेति तत्र कारणत्वेनायाति। दिव्याङ्गना मेनका मर्त्यं कण्वाश्रमं परिहाय दिव्ये मारीचाश्रमे शकुन्तलां यन्नयति तत्र कारणमेतदेव भवितुमर्हति यत्तत्र मारीचस्य दिव्याश्रमे दिव्याङ्गना मेनका स्वयमपि प्रतिवसति। दिव्यत्वाभावेन कण्वाश्रमे मेनकाया निवासो न युज्यते। सगोत्रीयतया कण्वस्य पक्षतश्चापि मारीचाश्रमे शकुन्तलाया अवस्थापनं समर्थितमेवेति पूर्वमपि प्रोक्तमेव। एकमन्यदपि कारणं तत्र विलोक्यते। कण्वः स्वाश्रमे सपत्नीको नास्ति। स तु विवाहमेव नाकरोत्। मारीचो निजाश्रमे सपत्नीकस्तिष्ठति। कण्वः शकुन्तलादुष्यन्तयोर्गार्हस्थ्यं सम्पादयन्नपि स्वयं गृहस्थो नास्ति। मारीचस्तु स्वयमपि गृहस्थ एवास्ति। तस्मादपि कारणाद् गार्हस्थ्यसिद्धिसन्दर्भे शकुन्तलाया मारीचाश्रमे वासोऽधिकं युज्यते।

तपस्तु तत्रोभयत्रापि समानं प्रतिष्ठते। दुर्वाससः शापं वरदानेन विनिमातुं शकुन्तलाया गार्हस्थ्येऽपि तपोविधानं कण्वस्याभिमतं चतुर्थाङ्के प्रोक्तमिति मारीचाश्रमादधिकं तपःसंसिद्धिक्षेत्रं किमन्यद् भवितुमर्हति? सुरासुरगुरुः कश्यपोऽदितिसहितोऽत्र तपस्यति। मातलिना निर्दिष्टं निजाश्रमे तपस्तपस्यन्तं कश्यपं (मारीचं) दुष्यन्तोऽवलोकयति–

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरगत्वग्ब्रह्मसूत्रान्तरः
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः।।

स्वर्गादधिकतरे निर्वृतिस्थाने तत्राश्रमे तावदमृतसरोवरेऽवगाहमान इव दुष्यन्तश्चिरं चिन्तयति–

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत्कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिँस्तपस्यन्त्यमी।।

अत्रैव मारीचाश्रमे तत्रभवती शकुन्तला गर्भस्थं स्वपुत्रं प्रसूतवती। अत्र शकुन्तलां सपुत्रां सुरक्षितां द्रक्ष्यामीति दुष्यन्तेन स्वप्नेऽपि न चिन्तितम्। तद्विरहव्यथाव्याकुलः सन्नपि यस्मादिन्द्रशत्रुवधे पुरुषार्थं प्रदर्शितवान्, तस्मादेव दैवोपनतं तस्येदमभीष्टसम्पादनमिति कथ्यते। अहो, कर्मानुसारि सदपि दिव्येनैव पथा कदाचित् कार्यं विपद्यते कदाचिच्च सम्पद्यते। पुरुषार्थस्य भाग्यस्य च सम्यक् संयोजनमेव श्रेयसे भवति। पुरुषार्थे स्वाधीनः सन्नपि जनो भाग्ये देवाधीनो भवति। देवा भाग्यविधातारो भवन्ति। भागग्रहीतारस्ते तदनुरूपं भाग्यमुपकल्पयन्ति। विपत्तौ परीक्ष्य सम्पत्तौ त एव प्रवर्तयन्ति। मानवलोकेन सह देवलोकस्य वैज्ञानिक एव सम्बन्धः प्रवर्तते।

मानवलोकस्य दुष्कर्मणा प्रादुर्भूतः कश्चिदन्धकारो दानवो भूत्वा देवलोकं पीडयति। देवास्तं दानवं स्वयमेव हन्तुं न पारयन्ति। देवानां कृते स दुर्जय एव भवति। तं दुर्जयं मानवा निजेन सत्कर्मणा यदा घ्नन्ति, तदा प्रसन्नास्त एव देवाः पुनरपि प्रकाशमाना मानवलोकमपि स्वभावादेव प्रकाशयन्ति। तेन दिव्येन प्रकाशेन मानवीयमभिज्ञानं समन्तादुपपद्यते। अङ्गुलीयकागमेन दुष्यन्तस्य यदभिज्ञानमुपपन्नं तदांशिकं प्रारम्भिकं फलप्राप्तिशून्यं वैक्लव्यकरं चाभूत्। किन्त्विदानीं दिव्यावदानेन तदेवाभिज्ञानं फलप्राप्त्या परिपूर्णतां याति।

अभिज्ञानं विना फलं लब्ध्वापि जनो निष्फलतामनुभवति। अभिज्ञानपूर्विका च या फलप्राप्तिस्तत्र कश्चिद्विलक्षण एवानन्दो लभ्यते। दुष्यन्तागमनं कश्यपाय निवेदयितुमाश्रमाभ्यन्तरं गते मातलौ तावदाश्रमपरिसरेऽशोकवृक्षमूले स्थितो दुष्यन्तस्तत्र नातिदूरे सिंहशावकमाकर्षन्तं कमप्यबालसत्त्वं बालमेकं पश्यति–

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति।।

"जृम्भस्व रे सिंहशावक जृम्भस्व, दन्ताँस्ते गणयिष्ये" इत्यविनय–संरम्भपरे बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यमानहृदयो दुष्यन्तश्चिन्तयति यन्नूनमनपत्यता मां वत्सलयतीति। द्वे तपस्विन्यौ सिंहशावकसंरम्भाद् बालकं विनिवारयन्त्यौ, मृण्मयूरेण क्रीडनकेनापरेण चामुं प्रलोभयन्त्यौ, दुष्यन्तमपि तदनुशासने प्रवर्तयन्त्यौ, वार्तालापक्रमेण तदानीं यदुक्तवत्यौ, तेन तदुक्तेन, निजेनावेक्षणेन च दुष्यन्तो विलक्षणेनैव केनापि प्रक्रमेण न जाने स्वात्मजं वा परिचिनोति स्वात्मानं वा परिचिनोतीति। "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्युक्त्या पुत्रः पितुरात्माभिज्ञाने कारणं भवति। आत्मनोऽभिज्ञानं सम्पद्यते सर्वविधेनापि सम्बन्धज्ञानेनेति सम्बन्धविज्ञानवेत्तारो वदन्ति। पुत्रप्राप्त्या पूर्णमात्मनो मनोरथं दुष्यन्तो यावदभिनन्दति, तावदेव पुरस्तादागच्छन्तीं शकुन्तलामवलोकयति–

वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति।।

तथापि–

उपरागान्ते शशिनः
समुपागता रोहिणी योगम्।।

दुष्यन्तः शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य प्रत्याह–

सुतनु, हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेष्वपि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशंकया।।

शकुन्तला स्वकीयमेव पुराकृतं सुचरितप्रतिबन्धकं किमपि तेषु दिवसेषु मत्वा साम्प्रतं स्वयमुपगतं सौभाग्यसीमानं कातरेणैव हृदयेनाभिनन्दति। दुष्यन्तेन सह दिवौकसां पित्रोरदितिमारीचयोः समीपमुपगन्तुं शकुन्तला जिह्रेति। भगवान् मारीचः शकुन्तलामाशीर्वदति–

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव।।

काशीखण्डे दशमेऽध्याये यदुक्तम्–

निष्प्रत्यूहं शतक्रतुं यः कश्चित् कुरुतेऽवनौ।
जितेन्द्रियोऽमरावत्यां स प्राप्नोति पुलोमजाम्।।

–इति। तदनुसारमेव शकुन्तलाया मङ्गलानुशंसनं मारीचेन विहितम्। शकुन्तलां शाकुन्तलेयं दुष्यन्तं चैकैकं निर्दिशन् भगवान् मारीचस्तत्र सृष्टिगतां कामपि सम्पूर्णतां साक्षात्करोति–

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्।।

इच्छा ज्ञानं क्रियार्थश्चेति सृष्टिक्रमे यत्सामान्येन वचसा प्रोक्तम्, तदेवात्र धार्मिकेण वैशिष्ट्येन संवलितं प्रोच्यते श्रद्धा विधिर्वित्तं चेति। क्रमं परिवर्त्य श्रद्धाविधानयोर्मध्ये वित्तमिति यल्लिख्यते, तत्र साहित्यिकं स्वारस्यं

स्वयमभ्युपेयम्। इह तु धर्मपरा विज्ञप्तिरुच्यते। काचिदिच्छा तावद् धर्मपरा न भवति, यावत् श्रद्धया न युज्यते। किमपि ज्ञानं तावद् धार्मिकं नोच्यते, यावद् विधिपूर्वकं न स्यात्। क्रियार्थोऽपि वित्ततयैव धार्मिकतां याति। बहुविधेषु सत्स्वपि वित्तेषु धर्मस्य वेत्तारः सुतमेव वित्तमिति मन्यन्ते।

मारीचः पूर्वोक्तेन पद्येन यां धर्मपरां सर्वाङ्गीणतां दुष्यन्ते शंसति, तत्र दुष्यन्तस्य विनयवचनं विनयेन शतगुणितं वर्तते। तदनुसारेण दुष्यन्तस्य पारिवारिके सौख्ये भगवतो मारीचस्य महती कृपा प्रतिफलति "प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद् दर्शन" मिति। तदुक्तं तेन—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमः
तव प्रसादस्य पुरस्तु सिद्धयः।।

अत्र मातलिर्वदति—

एवं विधातारः प्रसीदन्ति।

—इति। तदत्र महेन्द्रसारथेर्मातलेर्वचनविन्यासे विधातृपदेन 'देवसर्गः' पुरस्क्रियते। मानवसर्गः, ऋषिसर्गः, देवसर्गश्चेति सर्गत्रयं सम्मिल्य धर्मस्य कारणतां सम्पन्नतां च याति। अहो, महाकवेः कालिदासस्याभिज्ञानशाकुन्तले मारीचाश्रमे धर्मस्य महानेव समवायः समुपस्थितः। तत्र दुष्यन्तो मानवोचितां निजां सांसारिकीं व्यथां महनीयमनसामृषीणां पुरः सापराधेन भावेन तावदेवं प्रकटयति—

"भगवन्, इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिना उपयम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात् प्रत्यादिशन् अपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वामिमां तद्दुहितरमवगतोऽहम्। तत् चित्रमिव मे प्रतिभाति—

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वाऽथ भवेत्प्रतीतिः
तथाविधो मे मनसो विकारः।।

तत्र महामुनेर्मारीचस्य प्रत्युत्तरमस्ति–

"वत्स, अलमात्मापराधशंकया। सम्मोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः। श्रूयताम्। यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात् प्रत्याख्यानवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता, तदैव ध्यानादव–गतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा, नान्यथेति। स चायमङ्गलीयकदर्शनावसानः।"

दुष्यन्तः सोच्छ्वासं कथयति–

"एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।"

ऋषेरेकस्य (दुर्वाससः) वचनेन (शापेन) दुष्यन्तो वचनीयतां गच्छति, ऋषेरपरस्य (मारीचस्य) च वचनेन दुष्यन्तो वचनीयान्मुक्तोऽपि भवति। तदेवं मन्ये कविः ऋषेर्लक्षणविशेषं लिखति 'ऋषित्वं नाम मानवस्योभयपक्षपरिपूरकं कर्तृत्व'मिति। विश्वामित्रस्य कण्वस्य च युग्मकेऽपि ऋषित्वस्य तदेव लक्षणं वरीवर्ति। विश्वामित्रः सद्यः प्रसूतां शकुन्तलां समुपेक्ष्य मानवीयं विसंवादमुपस्थापयति, कण्वश्च शकुन्तलां संवर्ध्य मानवीयं महनीयं सुसंवादमाविर्भावयति।

यस्मादेव कारणादेकेन ऋषिणा परित्यक्ता शकुन्तलाऽपरेण ऋषिणा परिपालिता, तस्मादेव कारणाद् दुष्यन्तः शकुन्तलां परित्यज्य पुनः स्वधर्मपत्नीत्वेन तां संकलयति। तस्मादेव च दुष्यन्तस्यापि ऋषित्वं श्रूयते। ऋषेरुभयपक्षवर्तित्वं स्वीकृत्य प्रवर्तमानो मानवोऽपि ऋषिरेव भवति।

मारीचस्य मुखाद् दुर्वाससः शापप्रसंगं विदित्वा शकुन्तला दुष्यन्तं प्रति विगतशंका भवति। अद्यावधि सा परिशप्तमात्मानं न जानाति स्म। अद्य तथा विदित्वा प्रत्याख्यानस्य रहस्यं विदितवती। विदितार्थां शकुन्तलां महामुनिर्दाम्पत्येन धर्मसूत्रेण द्रढयति–

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरुक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्छति मलोपहतस्वभावे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा।।

दर्पणस्य दृष्टान्तेन दाम्पत्ये धर्मस्य विज्ञानमेव साध्यते। कविकुलगुरोः कालिदासस्येदं पद्यमनुहरन्निव सप्तदशख्रीस्तशताब्दीकश्चक्रकविर्निखिलद्वन्द्व–नियामकं चिरन्तनदाम्पत्यविज्ञानमधिकृत्य कृते निजे जानकीपरिणायाख्ये महाकाव्ये मङ्गलपद्यं विलिखति–

सन्ततं दृढसंसक्तं वन्दे द्वन्द्वं चिरन्तनम्।
आदर्शे केवलं पश्यद् आननाभां परस्परम्।।

इतोऽग्रे कालिदासो विशुद्धस्य दाम्पत्यस्य मूल्यांकन सन्ततिमुखेनो–पस्थापयति। मारीचो दुष्यन्तं पृच्छति "वत्स, कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मादिक्रियः पुत्र एष शाकुन्तलेयः" इति। दुष्यन्तः स्वपुत्रं हस्तेन गृहीत्वा कथयति "भगवन्, अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा" इति। मारीचः कथयति यदेष तव वंशप्रतिष्ठाकरस्तु भविष्यत्येव, तेन सहैवायं चक्रवर्ती सम्राडपि भविष्यतीति–

रथेनानुद्घातस्तिमित – गतिनोत्तीर्ण–जलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।।

अत्र वसुधाविजये दुष्यन्तपुत्रस्य शाकुन्तलेयस्य कश्चिदलौकिक एव क्रमः प्रस्तूयते। लोके रथेन गच्छन् जनो रथोद्घातजन्यं श्रमं निश्चयेनानुभवति। तदभावे तावदलौकिक एव रथक्रमः संभवति। एवमेव पद्ये स्मिमितगतिरिति यदुक्तं तदपि तावदलौकिकतामेव व्यनक्ति। स्तिमिता=निश्चला गतिरिह लोके न श्रूयते। श्रूयमाणा चापि नूनमलौकिकतामेव गमयति। तथाभूतेना–लौकिकेन पराक्रमेण स एष सप्तद्वीपां वसुधां जेष्यति रक्षिष्यति चेति। दमनाद् भरणाच्चेति तस्य नामद्वयं कथ्यते सर्वदमनो भरतश्चेति। तेन दण्डमुखेन धर्मस्थापनेन वक्तव्यमिदं यथोचितं विलसति।

एवंप्रकारेण हेमकूटे सिद्धिक्षेत्रे मारीचाश्रमे शाकुन्तलं धर्मविज्ञानं सर्वतोभावेन सम्पन्नम्। विशुद्धं दाम्पत्यम्, सदपत्येन कौटुम्बिकं सौख्यम्, चक्रवर्तित्वेन जगतीतले धर्मस्थापनं चेति त्रीण्यपि पदानि तत्र महता विज्ञानेन संकलितानि। तत्र जनस्य प्रतिष्ठा दाम्पत्ये, दाम्पत्यस्य प्रतिष्ठा कुटुम्बे, कुटुम्बस्य च प्रतिष्ठा विश्वव्यवस्थायां प्रदर्श्य कविः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इति श्रुतिवचनं स्वकाव्ये चरितार्थं करोति। मानवीयः पुरुषार्थः, ऋषीणां सहयोगः देवानां प्रसादश्चेति त्रिविधं वैज्ञानिकं वस्तुविधानं काव्यगतपरमार्थसम्पादने हेतुभूतं भवति। ऋषिर्मानवं देवतया योजयितुं प्रभवति। गीतायामर्जुनं प्रति कृष्णेन यदुक्तम्–

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।

–इति। तदेवात्र कालिदासस्याभिज्ञानशाकुन्तलेऽपि काव्यात्मकेन विधिना प्रोक्तं भवति। स्वापत्यदारसहितं सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य

राजधानीं प्रस्थातुमनुमतं दुष्यन्तं महामुनिर्मारीचः शुभाभिराशीर्भिः शंसति–

तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयालम्।
युगशत– परिवर्तैरेवमन्योऽन्यकृत्यै–
र्जयतमुभय– लोकानुग्रहश्लाघनीयैः।।

अभिज्ञानशाकुन्तलस्य कस्मिँश्चिदादर्शपुस्तके समानभावविलसितं दुष्यन्तेन्द्रयोः शुभाशंसापरं पद्यमेकमधिकतया लभ्यते। तत्पद्यमस्ति–

क्रतुभिरुचितभागाँस्त्वं सुरान् भावयालं
सुरपतिरपि वृष्टीस्त्वत्प्रजायै विधत्ताम्।
इति सममुपकारव्यंजितश्रीमहिम्नो–
र्व्रजतु बहुतिथो वां सौहृदेनैव कालः।।

एवं देवाधिपतिना सहैव मानवाधिपतिर्दुष्यन्तो भगवता मारीचेन श्रेयसि सम्प्रयोज्यते। अथ किं ते भूयः प्रियमुपकरामीति मारीचेन पृष्टः दुष्यन्तो भरतवाक्यं ब्रूते–

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।

।। इति रालपाविरचितं शाकुन्तलं धर्मविज्ञानं सम्पूर्णम् ।।

उद्धरणसूची

उद्धरणम्	ग्रन्थनाम	पृ.सं.
अक्लिष्टबालतरु	शा. ६.२०	१०८
अतः समीक्ष्य कर्तव्यं	शा. ५.२४	९३
अधरःकिसलयरागः	शा. १.१९	२७
अधीत्य विधिवद्विद्या	कुर्मपुराणोपविभागे	१७
अनाघ्रातं पुष्पं	शा. २.११	३३
अन्तर्हिते शशिनि	शा. ४.३	५३
अपारे काव्यसंसारे	वक्रो.जी. ३.२ (उदा.)	११
अभिनवरसलोलुपो	शा. ५.१	७५
अर्थो हि कन्या	शा. ४.२२	७१
अर्धपीतस्तनं	शा. ७.१४	११८
असंशयं क्षत्रपरिग्रह	शा. १.२०	२८
अस्मात्परं बत यथा	शा. ६.२५	३२, ११०
अस्मान् साधु	शा. ४.१७	६६
अहन्यहन्यात्मन	शा. ६.२४	१११
आखण्डलसमो भर्त्ता	शा. ७.२८	११६
आचार इत्यवहितेन	शा. ५.३	८०
आच्छाद्य चार्चयित्वा	मनु० ३.२७	५७
आपरितोषाद विदुषां	शा. १.२	६
आर्षं धर्मोपदेशं	मनु० १२.१०६	६८
आ लोकान्तात्	विक्रमोर्व. २.१	४०
आश्वास्यैवं प्रथम	उत्तमेघः ५०	५
इच्छाशक्तिर्ज्ञान	प्रकीर्णम्	७८
इतः प्रत्यादिष्टा	शा. ६.६	१०६
इदमुपनतमेवं	शा. ५.१९	८७
इन्द्रानिलयमा	मनु० ७.४	८३
ईषदीषच्चुम्बितानि	शा. १.४	१०
उत्पक्ष्मणोर्नयनयो	शा. ४.१५	६६
उदेति पूर्वं कुसुमं	शा. ७.३०	१२०
उदेति सविता ताम्र	काव्यप्र० २४५ (उदा.)	५१
उद्गलितदर्भकवला	शा. ४.१२	६८
उपरागान्ते शशिनः	शा. ७.२२	११८
एकैकमत्र दिवसे	शा. ६.१२	४३, १०७

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि	मालविका० (नान्दी)	३
एतस्मान्मां कुशलिन	उत्तरमेघः ४६	४
एषा कुसुमनिषण्णा	शा. ६.१६	४५
औत्सुक्यमात्रमवसा	शा. ५.६	८३
कण्वाश्रमं ततो	महाभारतम् ३.८२.४४	३६
कर्कन्धूनामुपरि	शा. ४.२ (पा.)	५२
कः पौरवे वसुमतीं	शा. १.२२	४५
कामं प्रत्यादिष्टा	शा. ५.३१	८८
कार्या सैकतलीन	शा. ६.१७	१०७
काव्येन शास्त्रेण च	लेखकस्य	१
काव्येषु नाटकं रम्यं	प्रकीर्णम्	५४
किं कृतकार्यद्वेषो	शा. ५.१८	८५
किं तावद् व्रतिना	शा. ५.६	८४
कुतो धर्मक्रियाविघ्नः	शा. ५.१४	८५
कृतं न कर्णार्पित	शा. ६.१८	१०८
कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वात्	शा. २.१८	३३
क्रतुभिरुचितभागा	शा. ७.३४ (पा.)	१२४
क्व वयं क्व परोक्ष	शा. २.१६	३५
क्षौमं केनचिदिन्दु	शा. ४.५	५८
गच्छति पुरः शरीरं	शा. १.३१	३१
गान्धर्वेण विवाहेन	शा. ३.२०	४२
गीते प्रत्यनः प्रथमं	नाट्यशा० ३२.४४१	२२
गुणनं ज्ञानयोगेन	प्रकीर्णम्	७८
चतुर्दशानां विद्यानां	कुर्मपुराणोपविभागे	१७
चूतानां चिरनिर्गतापि	शा. ६.४	१०३
जहन्नूम में जाइए	कस्यापि	१००
जीवो जीवति जीवेन	द्र.,शब्दकल्पद्रुमे 'स्वरोदय' श.	७६
ज्ञात्वापि विस्मृतं	प्रकीर्णम्	५
ज्वलति चलितेन्धनो	शा. ६.३१	११२
तदेवं सत्तामात्रेणैव	वक्रोक्तिजी० ३.२ (वृत्तिः)	११
तदेषा भवतः पत्नी	शा. ५.२६	८६
तपति तनुगात्रि	शा. ३.१४	३७
तव न जाने हृदयं	शा. ३.१३	३७
तव भवतु विडौजा	शा. ७.३४	१२४
तवास्मि गीतरागेण	शा. प्रस्तावना	२२
तीर्थेषु श्रुतिदृष्टेषु	भागवतपु० ४.२६.६	२३
दण्डः शास्ति प्रजाः	मनुस्मृतिः ७.१८	८१
दिष्ट्या शकुन्तला	शा. ७.२८	११६
देवानामिदमामनन्ति	मालविका० १.४	३

देवान् भावयतानेन	गीता ३.११	१२३
धन्या वसुमती यत्रो	लेखकस्य	१६
धर्मस्तत्र सदर्थाय	प्रकीर्णम्	७६
न सन्निधात्री यदि	नैषधम् ६.७८	६२
नाच्छायो नाप्रभः	चरकसं० ५.७.१७	२६
नापेक्षितो गुरुजनो	शा. ५.१६	८८
निक्षेपस्यापहर्तारं	मनु० ८.१९२	६३
नियमयसि कुमार्ग	शा. ५.८	८४
निष्प्रत्यूहं शतक्रतुं	काशीखण्डे दशमेऽध्याये	११६
पातुं न प्रथमं	शा. ४.९	६६
पात्रविशेषे न्यस्तं	मालविका० १.६	७
पादन्यासं क्षितिधर	शा. ४.२ (पा.)	५२
पुत्रमेवं गुणोपेतं	शा. १.१२	२४
पुराणमित्येव न	मालविका० १.२	८
पृथक्पृथग्वा मिश्रौ	मनु० ३.२६	४२
प्रजाः प्रजाः स्वा इव	शा. ५.५	८३
प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय	शा. भरतवाक्यम्	१२४
प्राणानामनिलेन	शा. ७.१२	११७
ब्रह्माण्डखण्डपिण्डाद्यं	शिवस्वरोदयः २०	७८
भवन्ति नम्रास्तरवः	शा. ५.१२	८४
भानुः सकृद् युक्त	शा. ५.४	८३
भूत्वा चिराय चतु	शा. ४.२०	६४
भौतिकविज्ञानयुगे	प्रकीर्णम्	१७
भ्रमर वच्मि भवानलौ	प्रकीर्णम्	१६
मय्येव विस्मरणदारु	शा. ५.२३	८७
मूढः स्यामहमेषा वा	शा. ५.२६	८८
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः	मनु० ७.४७	२३
मृगया न विगीयते	नैषधम् २.९	२३
मोघमेव पाठपरे सति	लेखकस्य	२१
यज्ञे तु वितते	मनु० ३.२८	५८
यथा गजो नेति	शा. ७.३१	१२१
यथा वर्णादृते	नाट्यशास्त्रम् ३२.४३१	२२
यदर्थकामौ धर्मेण	प्रकीर्णम्	२०
यदि यथा वदति	शा. ५.२७	६६
यद्यत् साधु न चित्रे	शा. ६.१४	१०७
ययातेरिव शर्मिष्ठा	शा. ४.७	६२
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां	मनु० ७.५	८३
यस्य त्वया व्रणविरो	शा. ४.१४	६८

यस्यां जागर्ति भूतानि	गीता २. ६९	६८
यात्येकतोऽस्तशिखरं	शा. ४.२	४६
या सृष्टिः स्रष्टुराद्या	शा. (नान्दी)	२
यास्यत्यद्य शकुन्त	शा. ४.६	७०
येन येन वियुज्यन्ते	शा. ६.२३	१०६
यो हनिष्यति वध्यं	शा. ६.२८	११४
रथेनानुद्घाता	शा. ७.३३	१२२
रम्यं द्वेष्टि यथा	शा. ६.५	१०४
रम्याणि वीक्ष्य	शा. ५.२	७५
रम्यान्तरः कमलिनी	शा. ४.११	६८
वर्णमाक्रामति च्छाया	चरक० ५.७.१६	२५
वल्मीकार्धनिमग्न	शा. ७.११	११६
वसने परिधूसरे	शा. ७.२१	११८
वाचं न मिश्रयति	शा. १.२८	३०
विचिन्तयन्ती यमनन्य	शा. ४.१	४६
विना धर्म के नहीं	कस्यापि	२०
वृत्तवन्ति सुमानि	प्रकीर्णम्	१६
व्यासङ्गं जानासि भो	लेखकस्य	१६
शमप्रधानेषु तपो	शा. २.७	५६
शममेष्यति मम शोकः	शा. ४.२१	६६
शापादसि प्रतिहता	शा. ७.३२	१२२
शुश्रूषस्व गुरून्	शा. ४.१८	७०
शुष्कतर्क परित्यज्य	महाभा० ३.१९९.१०८	९९
श्लिष्टा क्रिया कस्यचि	मालविका० १.१६	७
सख्युस्ते स किल	शा. ६.३०	११३
स धर्मस्थसखः	रघु० १७.३९	१०६
सन्ततं दृढसंसक्तं	रुक्मिणीकल्याणमहा० १.१	१२२
सर्वथा व्यवहर्तव्यं	उ०रा०च० प्रस्तावना	४४
सहजं किल यद्विनि	शा. ६.१	१०२
सा निन्दती स्वानि	शा. ५.३०	९५
सान्निध्ययोगात्	रघु० ७.३	९१
सिसृक्षा सहजा प्रोक्ता	प्रकीर्णम्	७८
सुतनु हृदयात्	शा. ७.२४	११९
सुभगसलिलावगाहाः	शा. १.३	९
स्वसुखनिरभिलाषः	शा. ५.७	८४
स्वरज्ञानात्परं मित्रं	शिवस्वरोदयः २१	७८
स्वरा हि मात्रिकोच्चारा	शब्दकल्पद्रुमे 'स्वर' शब्दः	७८
स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि	शिवस्वरोदयः १६	७८

नानृषिः कविरित्युक्तो
नाप्रभुर्नाप्यधार्मिकः ।
नानासक्तो न चासक्तो
नार्तत्राणपराङ्मुखः ॥

हपर्वा प्रकाशन
५/७५० ए, विकास खण्ड
गोमतीनगर, लखनऊ-२२६०१०
(भारत)